# मणिमहेश यात्रा

संपादक
डॉ. तुलसी रमण

हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी

# मणिमहेश यात्रा

**हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी**

क्लिफ ऐण्ड एस्टेट, शिमला - 171001

# मणिमहेश यात्रा

संपादक

डॉ. तुलसी रमण

सहायक संपादक

डॉ. कर्म सिंह

सूनृता गौतम

ISBN : 81–86755–61–6

**प्रकाशक** : **सचिव**
हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी शिमला,
171001 हि. प्र.



प्रथम संस्करण : 2011

मूल्य : ₹ 80.00 पेपरबैक

कम्पोज़िंग : भूषण लता

मुद्रक : भारत ऑफसेट वर्क्स
3550, जाटवाड़ा स्ट्रीट, दरयागंज
नई दिल्ली - 110 002

---

**Manimahesh Yaatra**

Published by : Secretary, Himachal Academy of Arts, Culture & Languages, Shimla-171001

Edition : 2011

**Price : ₹ 80/-**

# आमुख

## प्रेम कुमार धूमल

मुख्यमन्त्री हिमाचल प्रदेश एवं अध्यक्ष, हिमाचल अकादमी

यह प्रसन्नता की बात है कि हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी द्वारा 'मणिमहेश यात्रा' पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। यात्रा की परम्परा भारत में अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। जब से मनुष्य ने इस पृथ्वी को देखना, समझना चाहा 'यात्रा' का प्रचलन तभी से है।

भारतीय सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में यात्राओं का विशेष महत्त्व रहा है। पूज्य आदि शंकराचार्य ने भारतवर्ष के चारों किनारों पर तीर्थ स्थापित करके जिस 'चार धाम यात्रा' का सूत्रपात किया था, वह आज राष्ट्रीय एकता, भाषायी और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की दिशा में विशेष भूमिका निभा रही है।

हिमाचल प्रदेश में सांस्कृतिक यात्राएँ पुरातन काल से चली आ रही हैं। यहाँ शिव और शक्ति के अनेक आराधना स्थल ऊँची चोटियों पर स्थापित हैं। इन तक पहुँचने के लिए विशेष पर्वो के अवसरों पर श्रद्धालुओं की यात्राओं की परम्परा रही है। प्रदेश के शक्तिपीठों में तो हर वर्ष लाखों श्रद्धालु दर्शनार्थ आते हैं। अब ये पारम्परिक यात्राएँ आज के पर्यटकों के लिए भी विशेष आकर्षण रखती हैं। इस दौरान जहाँ पर्वतीय प्रदेश की प्राकृतिक छटा उन्हें देखने को मिलती है, वहीं परम्परागत संस्कृति की झाँकी भी जीवंत हो उठती है। यहाँ यह सब आस्था के वातावरण में घटित होता रहा है।

मणिमहेश यात्रा प्रदेश के चम्बा ज़िला की एक ऐसी ही पारम्परिक यात्रा है जो सदियों से होती आ रही है। हिमाचल प्रदेश में वैसे तो अनेक शिव-स्थान हैं, लेकिन चम्बा का मणिमहेश कैलास तथा किन्नौर का किन्नर कैलास, पर्वत शिखरों पर स्थापित ऐसे शिव-धाम हैं, जो कठिन पर्वतीय यात्राओं के कारण भी अपना विरल आकर्षण रखते हैं। इन यात्राओं के माध्यम से हिमाचल प्रदेश की अनूठी और संश्लिष्ट सांस्कृतिक छवियाँ भी सामने आती हैं। इस पुस्तक में प्रसिद्ध बंगला लेखक उमा प्रसाद मुखर्जी तथा यात्राओं के लिए चर्चित विद्वान लेखक राहुल सांकृत्यायन के यात्रा वृत्तांत पाठकों के लिए विशेष रूप से रुचिकर होंगे और इनके माध्यम से कांगड़ा व चम्बा क्षेत्रों के जनजीवन की झाँकी भी सामने आ सकेगी। इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए मेरी शुभकामनाएँ!

# प्राक्कथन

## मनीषा नंदा

प्रधान सचिव (भाषा-संस्कृति) एवं उपसभापति, हिमाचल अकादमी

हिमाचल प्रदेश में पारम्परिक धार्मिक-सांस्कृतिक यात्राएँ आज देश-विदेश से आनेवाले पर्यटकों के लिए विशेष आकर्षण प्रस्तुत करती हैं। एक ओर साहसिक पर्यटन के लिए यहाँ की अनेक घाटियाँ और चोटियाँ प्रसिद्ध हैं, दूसरी तरफ नवरात्रों और अन्य विशेष पर्वों पर होने वाली सांस्कृतिक महत्त्व की यात्राएँ जहाँ स्थानीय लोगों को अपनी परम्परा से जोड़े रखती हैं, वहीं बाहर से आनेवाले पर्यटकों के लिए, इन यात्राओं का भी रोचक अनुभव रहता है।

चम्बा की मणिमहेश यात्रा में कृष्ण जन्माष्टमी से लेकर राधाष्टमी तक संस्कृति के समस्त स्थानिक उपादानों के दर्शन तो होते ही हैं, इसमें भारतीय संस्कृति के शैव, शाक्त तथा नाथ सम्प्रदायों की लोक में रची-बसी मान्यताओं को देखने-समझने का भी अवसर मिलता है। यह यात्रा असंख्य चेहरों, उनके रंग-रूप, वेश-भूषा और विश्वासों को मिलाकर अनूठे दृश्य प्रस्तुत करती है; जिसमें गीत-संगीत, जयकारों आदि को मिलाकर अद्‌भुत रोमांच की सृष्टि होती है। वास्तव में यह एक यात्रागत मेले का रूप बनता है।

इस यात्रा में समग्र चम्बा का बहुत कुछ एक साथ देखा जा सकता है। रावी के किनारे और चम्बा के चौगान से लेकर मणिमहेश कैलास की ऊँचाई तक पहुँचते हुए छतराड़ी और भरमौर के पुरातात्त्विक स्थलों में ही इतनी सांस्कृतिक धरोहर विद्यमान है कि देखकर यात्रा सार्थक हो जाती है। इससे पूर्व चम्बा तक पहुँचते हुए भी कांगड़ा व चम्बा के अनेक दर्शनीय स्थल आते हैं। इस तरह सांस्कृतिक अभिरुचि के पर्यटकों के लिए यह एक अच्छा अवसर रहता है।

अकादमी द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'मणिमहेश यात्रा' में बंगला लेखक उमा प्रसाद मुखर्जी तथा हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार राहुल सांकृत्यायन के यात्रा संस्मरण उस समय के हैं जब चम्बा काफी हद तक भीड़-भाड़ से अछूता था। इसके अतिरिक्त इस यात्रा की स्थानिक परम्परा को दर्शानेवाले लेख भी इसमें शामिल हैं। आज भी प्रदेश के दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा चम्बा में काफी कुछ मौलिक शेष है। यह पुस्तक सांस्कृतिक धरोहर से समृद्ध चम्बा-भरमौर क्षेत्र की यात्रा के लिए प्रेरक और ज्ञानवर्द्धक साबित होगी।

# प्रस्तावना

## डॉ. तुलसी रमण

सचिव, हिमाचल अकादमी

*'नदी के ऊपर एक छोटा तख्ता पड़ा हुआ है। वह पुल का काम देता है। ऊपर फिर चढ़ाई है। ढालू पहाड़ी देह। नयी गिरी बर्फ़ फैली हुई है। पाँवों के बोझ से बर्फ़ काँच की तरह टूटती है। आनंदपूर्वक ऊपर चढ़ता जाता हूँ। थोड़ा और चढ़ने पर सामने की इस चढ़ाई के खत्म होते ही मणिमहेश शिखर!'*

बंगला लेखक उमा प्रसाद मुखर्जी के 'मणिमहेश परिक्रमा' शीर्षक यात्रा संस्मरण की ये अनूदित पंक्तियाँ हैं। यहाँ फिर 'आनंदपूर्वक' शब्द आया है। इस यात्रा में बार-बार उनका मन आनंद से भर जाता है। दरअसल यह एक आस्तिक की यात्रा-कथा है। कलकत्ता से चलकर हिमालय के आँचल में पठानकोट, डलहौज़ी और चम्बा होते हुए, मणिमहेश के प्रवेश-द्वार भरमौर तक पहुँचती इस यात्रा-कथा में लेखक ने पहाड़ के प्राकृतिक सौंदर्य के साथ भरमौर और चम्बा के कलाप्रिय राजाओं के इतिहास, पुरातत्त्व सम्पदा, चम्बा की करुण कथाओं और गद्दी जीवन के जीवंत प्रसंग प्रस्तुत किए हैं।

*'नदी, पहाड़ और शांत प्रकृति के साथ अंतर का सुर मिलाकर अपने में खोया चला जा रहा हूँ'* पहाड़ की प्रकृति से लेखक की यह अंतरंगता भाषा में ग़ज़ब का प्रवाह लिये है और यात्रा लेखन का यही जादू है। मुखर्जी की यह यात्रा-कथा प्रसंग-दर-प्रसंग वर्णनों से बढ़कर जानकारीपूर्ण संवादों के सहारे आगे सरकती है। यह वास्तव में एक सुपठित लेखक की यात्रा है। चम्बा-भरमौर को लेकर लिखा-छपा, पढ़ा-गुना गया है और प्रत्यक्ष देखे गए पर, लेखक की आत्मीय और पैनी नज़र पड़ती है। यही कारण है कि मणिमहेश की लोक आस्था, नागा बाबा और चर्पटनाथ के चरित से लेकर, गद्दी जाति के इतिहास, और प्रकृति के साहचर्य में उनके घुमन्तू जीवन का इसमें अद्भुत चित्रण हुआ है। वास्तव में उमा प्रसाद मुखर्जी की यह यात्रा सितम्बर, 1962 में स्थानिक इतिहास, कला, संस्कृति, जनजीवन और प्रकृति की गतिविधि की अध्ययन-यात्रा है।

अविराम यात्री राहुल सांकृत्यायन बीसवीं सदी के निराले लेखक हुए हैं। उन्होंने विश्व के अनेक देशों की यात्राएँ कीं और तिब्बत की जोखिमपूर्ण ज्ञान-यात्राओं के बाद राहुल जी किन्नौर के रास्ते हिमाचल में भी उतर आए थे। फिर दार्जिलिंग, कुमाऊँ, गढ़वाल और नेपाल की हिमालयी यात्राओं के बाद, सन् 1953 में उन्होंने

कांगड़ा और चम्बा भी घूम लिया। तब वह हिमाचल में पाँचवी बार आए थे।

*'पठानकोट नाम कितना भ्रामक है? सुननेवाला यही समझेगा कि यहाँ पठानों का कोट रहा होगा। उदुंबरों के गण की राजधानी प्रतिष्ठान से इसका कितना अंतर है? मुगल काल में भी इसे पठान नहीं 'पैठान' कहा जाता था* इस तरह इतिहास-प्रसंगों में रम जाना राहुल जी का स्वभाव था और दूसरी ओर गुणी व्यक्तियों और प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति उनका विरल आकर्षण रहा है। हरितवसना डलहौज़ी को वह हिमाचल की सभी विलासपुरियों की रानी मानते हैं। मगर अब इसके वीरान रहने की जो चिंता उन्होंने इस यात्रा-कथा में व्यक्त की है, वही मोहन राकेश अपनी कहानी 'मंदी' में कह गए हैं।

चम्बा पहुँचकर राहुल सांकृत्यायन वहाँ के मंदिरों, मूर्तियों, संग्रहालय और पुरातत्त्व-इतिहास की पुस्तकों की खबर सबसे पहले लेते हैं। वास्तव में पढ़ना और परिदर्शन उनकी घुमक्कड़ी के अभिन्न अंग रहे हैं। वह चम्बा की नागरियों को रूप-रंग की आगरियाँ पाते हैं और उनकी पोशाक में प्रमुख पसवाज (मुगल कालीन बेगमों की पेशवाज) का इतिहास चम्बा-चित्रों में देखते हैं। राहुल जी की यात्राएँ संपर्क-सूत्रों से जुड़ी रहती थीं, क्योंकि उन्हें स्थानिक सूचना-सामग्री की ज़रूरत थी। चम्बा में तब डिप्टी कमिश्नर श्री ठाकुर सेन नेगी और स्पीकर पं. जयवंतराम आदि प्रमुख व्यक्ति उनके सुपरिचित थे। राहुल इस यात्रा में मेरु के भरमौर तक पहुँचते हैं। भरमौर के 'चौरासी' को राष्ट्रीय संग्रहालय कहते हुए वहाँ की अमूल्य धातु-मूर्तियों और उन पर उत्कीर्ण अभिलेखों का महत्त्व रेखांकित करते हैं।

आस्तिक यात्री उमा प्रसाद मुखर्जी मणिमहेश शिखर तक पहुँचते हैं और राहुल सांकृत्यायन अपने नास्तिक होने की स्वीकृति रास्ते में बस दुर्घटना के प्रसंग में दे चुके हैं। लेकिन गद्दी लोगों के देश में, मेरु की कला नगरी ब्रह्मपुर को देखने में उनकी आस्था स्वयं सिद्ध है।

प्रख्यात लेखकों की ये दोनों यात्रा-कथाएँ चम्बा-भरमौर के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्त्व को व्यापक प्रसार देनेवाली हैं। इसके अतिरिक्त मणिमहेश न्हौण (पवित्र स्नान) की परम्परा भी अपने में अनूठी है। दसवीं शताब्दी में शैल वर्मन (920-940 ई.) द्वारा योगी गुरु चर्पटनाथ की प्रेरणा से शुरू की गई यह पवित्र स्नान यात्रा पिछली दस सदियों से प्रतिवर्ष लोकानुष्ठान की तरह सम्पन्न होती रही है। इसमें चम्बा के आसपास के अनेक क्षेत्रों से विभिन्न समुदायों के लोग सम्मिलित होते हैं। 'मणिमहेश न्हौण' पर चम्बा के स्थानीय लेखकों कमल प्रसाद शर्मा और रमेश जसरोटिया के सघन जानकारीपूर्ण लेख इस यात्रा का दूसरा आयाम दर्शाते हैं। उम्मीद है चम्बा-भरमौर के इतिहास, कला-संस्कृति पर प्रकाश डालनेवाली यह पुस्तक पाठकों को पसंद आएगी।

# अनुक्रम

# मणिमहेश परिक्रमा

## उमा प्रसाद मुखर्जी

## बंगला से अनुवाद : प्रफुल्ल

पठानकोट स्टेशन। कलकत्ता से सुदीर्घ रेल-पथ मानो हिमाचल के पश्चिम राज्य में प्रवेश करने का सिंहद्वार। बस और मोटरों के चलने का सुप्रशस्त राजपथ। यात्रियों से भरे यान-वाहन हिमालय की विभिन्न दिशाओं में, पंचनद के बाल्य-लीला निकेतन में, भागते-दौड़ते हैं।

उत्तर-पश्चिम से जम्मू होते हुए कश्मीर। झेलम-चनाब के देश में। पूर्व की ओर कुछ आगे बढ़ने पर एक शाखा-पथ उत्तरी हिमालय की ओर मुड़ जाता है। उधर शांत हिल-स्टेशन डलहौजी है। उसी के नीचे रावी यानी इरावती की उपत्यका है–चम्बा की घाटी।

डलहौजी का रास्ता पार करके बस-मार्ग और आगे बढ जाता है। एक दूसरा शाखा-पथ हिमाचल में प्रवेश करता है। उधर सुन्दर पहाड़ी शहर धर्मशाला है।

धर्मशाला की ओर न जाकर और भी पूर्व की ओर बढ़ जाने पर कांगड़ा की उपत्यका है। उसके बाद है–कुल्लू घाटी। वहाँ व्यास यानी विपाशा की मानो हिमालय के राजभवन में, नृत्य-सभा जुटी हुई है। नीली साड़ी पहनकर वह रूपवती बाला नूपुर-झंकार के साथ उतर आती है।

बस का रास्ता छूट जाता है। नये-नये रास्ते सामने आते हैं। कुल्लू घाटी के मंडी और ऑऊट से और भी आगे पूर्व की ओर बढ़ जाते हैं। एक के बाद दूसरे पहाड़ को लाँघ जाते हैं। सांस लेते हैं शिमला हिल स्टेशन पहुँच कर। उसी मार्ग में शतद्रु यानी सतलुज नद पड़ता है। मटमैला पानी। जाने कैसा रूखा-सा रूप। देखकर लगता है, मानो कंधे पर खंती रखे मिट्टी-सने शरीरवाला कोई अनमना जवान अपने काम पर जा रहा हो। दुर्गम हिमालय में नद-नदियों के जाने कितने विचित्र और विभिन्न रूप हैं।

**18 सितम्बर, 1962**

ट्रेन से पठानकोट में उतरता हूँ। बात अकेले ही जाने की थी लेकिन यात्रा के समय एक तरुण संगी आकर साथ हो गये। नाम उनका हिमाद्रि था।

हिमालय के साथ अभी-अभी उनका परिचय आरम्भ हुआ था। बद्रीनाथ और हेमकुंड घूम आने के कारण उनका मन आनन्द से मत्त हो गया है। हिमालय के मार्ग पर चलने का नशा रक्त में समा गया है।

उन्होंने आकर कहा, "मैं भी चलूँगा। पूजा की छुट्टी के साथ ही दफ्तर से कुछ और छुट्टियाँ ले रहा हूँ। कुछ महीने घूमा-फिरा जायेगा।" सुनकर मैंने उन्हें बताया, "मेरे साथ तो समय की खींचतान नहीं है। पता नहीं उधर कितने दिन बिताऊँगा। मैंने चम्बा घाटी नहीं देखी है। पहले उधर ही जाना होगा। ऐसा लगता है कि इतने दिनों बाद मणिमहेश की पुकार आयी है। उसके बाद कुल्लू की ओर। पुराना देखा होने पर भी एक बार फिर जाऊँगा। उधर के मित्रगण बुला रहे हैं। वहाँ से पहाड़ी रास्ते से शिमला। शिमला से पहाड़ के पैदल रास्ते से मसूरी। फ़िर उधर पहुँचने पर, गढ़वाल तो जाना ही होगा। केदारनाथ जी का दर्शन किये बिना तो यात्रा की परिपूर्णता होगी नहीं। इसी से पठानकोट में ट्रेन से उतरने के बाद देहरादून या हरिद्वार में ट्रेन पर चढ़ने की बात है।"

हिमाद्रि हार नहीं मानता। कहता है, "इसमें से जितनी दूर संभव होगा, साथ-साथ घूमूँगा। दफ्तरवाले इससे अधिक छुट्टी नहीं देंगे।"

हिमाद्रि की उम्र पच्चीस की है। वह उत्साही और कार्यकुशल है। लेकिन मैं जानता हूँ, चार-पाँच साल से नौकरी पर लगने के बाद भी वह अपना शिशु-सुलभ स्वभाव नहीं छोड़ पाया है। बीच-बीच में अचानक नाराज़ हो जाता है। तब गुमसुम बना बैठा रहता है। खाना-पीना छोड़ देता है। मुँह दूसरी ओर फेरकर कहता है, "भूख नहीं है, नहीं खाऊँगा।" गाढ़े दोस्त उसकी हँसी उड़ाते हैं। 'बच्चा बाबू' कहते हैं। वे छेड़ते हैं। वह और नाराज़ हो जाता है।

दोस्त हट जाते हैं। कहते हैं, "अब उसे मत चिढ़ाओ। थोड़ी देर बाद ही ठीक हो जायेगा।" होता भी ऐसा ही है। मानो अचानक उठा तूफान सहसा रुक जाता है।

मैंने उससे कहा, "साथ चलना है तो चलो, लेकिन मेरी दो शर्तें हैं। रास्ते में मैं जब तुम्हें जो कहूँगा, तुमको मान लेना पड़ेगा। यह विश्वास रखो कि अनुचित कोई बात नहीं कहूँगा। दूसरी बात–जितने दिन मेरे साथ रहोगे, किसी पर क्रोध नहीं कर सकोगे।"

उसने आँख सिकोड़ कर कहा, "वाह! यह कैसे होगा ? क्रोध का कारण होने पर क्रोध नहीं आयेगा ?"

मैंने हँसकर बताया, "यही तो कह रहा हूँ। क्रोध का कारण न होने पर तो क्रोध होगा ही नहीं, लेकिन क्रोध का कारण होने पर भी यानी तुम्हारे ख़याल से क्रोध करने से नहीं बनेगा। उस समय सोचना कि इन कुछ दिनों के लिए जो प्रतिज्ञा की जा रही है, उसकी परीक्षा हो रही है। अतः हँसी-खुशी अपना मिजाज़ ठीक रखना ही होगा।"

अब वह चिंतित हो गया, "यही तो! यह तो भीषण परीक्षा है। अभी वचन दे सकता हूँ। उसके पालन की चेष्टा भी कर सकता हूँ। लेकिन मन पर इतनी जबरदस्ती! वह क्या चल पायेगी ? अगर चट्ट से क्रोधित हो जाऊँ तो?"

मैंने उसे भरोसा दिलाया, "तुम चेष्टा तो करो, फिर देखेंगे कि चाहे जिस भी कारण से क्यों न हो, अगर क्रोध किये बिना हिमालय से घूम-फिर कर लौट आ सके तो वह कैसा गहरा मानसिक आनंद होगा! जैसे गंगा में डुबकी लगाकर स्नान की तृप्ति मिलती है। कुछ ही दिनों की तो बात है। बल्कि एक काम करो, अगर क्रोध कभी खा-म-ख़ाह आ ही जाए तो गुस्सा मुझ पर उतार लेना। मैं उसका बोझ संभाल लूँगा।"

वह हँस पड़ा। बोला, "आपने भी खूब कहा! आप पर मैं कैसे क्रोध कर सकता हूँ ? अच्छा, यही तय रहा।"

अतः वह भी साथ हो लिया।

देश-विदेश में विशेषतः वन-जंगल-पहाड़ों में घूमने-फिरने का बहुत बड़ा लाभ यह है कि कितनी ही जगहों पर, कितने ही लोगों के साथ नित्य मिलना-जुलना होता है। वे अपरिचित होकर भी मानो न जाने कितने आत्मीय होते हैं। उनसे पता नहीं कितने लम्बे अर्से का परिचय होता है। मार्ग के आसपास अपना घर बसाने जैसा लगता है। वन-विभाग के अफ़सर, कर्मचारी शहर के सदर दफ़्तर में नहीं, वन के निर्जन इलाके में--जैसे सभी अपने लोग हैं।

एक गढ़वाली मित्र उन दिनों मंडी के फॉरेस्ट अफ़सर थे। उन्होंने स्वयं ही चम्बा के दफ़्तर को पत्र लिख दिया था। पठानकोट स्टेशन पर उतर कर मैंने देखा, हरे रंग के यूनीफॉर्म में फॉरेस्ट गार्ड खड़ा है। मानो पेड़-पौधों का हरा रंग लगाये अरण्यदूत ने हमारा स्वागत किया। उसने आगे बढ़कर कहा, "चम्बा की बस छूटने ही वाली है, आप लोगों के लिए सीट सुरक्षित करा ली है।"

टिकट लेकर हम बस पर जा बैठे।

बस मार्ग से पठानकोट से चम्बा की दूरी 75 मील है। डलहौजी तक का रास्ता मेरा जाना-पहचाना था। समतल भूमि से आगे बढ़ने पर, आरम्भ में छोटे-छोटे पहाड़ों की शृंखला है। पीछे की ओर माथा उठाये गिरिराज हिमालय है--धवलधार। उससे मोड़ खाती बस ऊपर उठती है। पुराना मार्ग अतीत की स्मृतियों को खींच लाता है।

डलहौजी से पाँच मील आगे बनीखेत है। डलहौजी का रास्ता छोड़कर बस बायीं ओर के नये मार्ग पर आगे बढ़ती है। पहाड़ के चक्करदार रास्ते से, नीचे की ओर इरावती की उपत्यका में उतरती जाती है।

चम्बा शहर के बीचों-बीच राजमहल है। एक ओर शरणार्थियों की दुकानों की पंक्ति है। साफ-सुथरा शहर है। ऊँचाई लगभग तीन हज़ार फीट है। इसी से गर्मी भी नहीं है, उतनी ठंड भी नहीं है।

अंग्रेज़ों के ज़माने में चम्बा करद राज्य था। यही चम्बा शहर उसकी राजधानी था। चम्बा के स्वाधीन राजाओं की प्राचीन राजधानी भरमौर में थी, हिमालयी पर्वत प्रदेश के और भीतरी भाग में; काफी ऊँचाई पर। वह मणिमहेश के रास्ते में पड़ता है। इरावती के किनारे इस सुरम्य समतल उपत्यका ने एक राजकुमारी की दृष्टि आकर्षित की थी। कन्या के उत्साह से राजा साहिल वर्मा ने ईसा की दसवीं शती में यहाँ नयी राजधानी स्थापित की। राजकुमारी का नाम था चम्पावती; उसी के नाम से राजधानी का नाम भी चम्पा रखा गया, जो बाद में लोकमुख से चम्बा बन गया।

चम्बा में कुछ मंदिर हैं। राजमहल के पास ही एक साथ छह मंदिर हैं। लक्ष्मीनारायण, राधाकृष्ण, चंद्रगुप्त-शिव, शिवलिंग, गौरीशंकर और लक्ष्मीदामोदर मन्दिरों में अत्यन्त सुन्दर और सूक्ष्म शिल्पकार्य हुआ है। लक्ष्मीनारायण का मंदिर सब से पुराना है। ईसा की दसवीं शती का।

इन मंदिरों, विग्रहों और नगर की स्थापना के सम्बंध में अनेक मनोहर और करुण कथाएँ प्रचलित हैं। उनकी स्मृति में चम्बा में अब भी कई मेले लगते हैं।

कहा जाता है कि राजकुमारी चम्पावती विदुषी महिला थी। शास्त्रादि की चर्चा में उसकी विशेष रुचि थी। इसी के लिए वह प्रतिदिन एक महात्मा के पास जाया करती थी। कन्या के प्रतिदिन इस तरह आने-जाने से पिता के मन में संदेह उत्पन्न हुआ। एक दिन अचानक राजा चुपचाप उस महात्मा की कुटिया में जा पहुँचे। लेकिन वहाँ उन्हें न महात्मा मिले, न कन्या ही दीख पड़ी। तभी उन्होंने देववाणी सुनी, "इस अनुचित संदेह के पाप के फलस्वरूप

तुम अब कभी अपनी कन्या को नहीं देख पाओगे।" संतप्त और शोकातुर राजा ने कन्या की देवी-मूर्ति प्रतिष्ठित करके चम्बा में एक चम्पावती मंदिर की स्थापना की। आज भी वहाँ प्रतिदिन पूजा होती है। वैशाख मास में एक मेला भी लगता है।

चम्बा में नयी राजधानी के निर्माण के सम्बंध में भी एक करुण कहानी प्रचलित है। नया नगर, लेकिन जल का अभाव। पहाड़ काटकर नाली बनी और जल ले आने की व्यवस्था की गयी। लेकिन जल फिर भी नहीं आया। स्वप्न में राजा को आदेश हुआ कि महारानी या उनका कोई पुत्र इस जल-स्रोत पर प्राणोत्सर्ग करे, तभी जल नगर तक नीचे उतरेगा। महारानी ने नगरवासियों को जल उपलब्ध कराने हेतु स्वेच्छा से बलिदान किया। जल का प्रवाह बहने लगा। महारानी का नाम था–नैना देवी या सुनयना देवी। उनकी स्मृति-रक्षा के लिए भी एक मंदिर की स्थापना हुई। चैत्र मास के अंत में वहाँ भी मेला लगता है। यह मेला छोटे-छोटे लड़के-लड़कियों और औरतों का मेला है। इसे 'सूही मेला' कहते हैं।

## श्रीलक्ष्मीनारायण मंदिर

लक्ष्मीनारायण मंदिर की स्थापना के बारे में भी एक किंवदंती प्रचलित है। राजा साहिल वर्मा निःसंतान थे। उस समय राज्य की राजधानी भरमौर में थी। एक दिन वहाँ चौरासी सिद्ध आये। राजा की सेवा से संतुष्ट होकर उन महात्माओं ने उसे संतान प्राप्ति का वर दिया। राजा के घर दस पुत्रों और एक कन्या का जन्म हुआ। चम्पावती वही कन्या थी। राजा ने संन्यासियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए चौरासी मंदिरों की स्थापना की। उन्होंने कन्या की अभिलाषा पूरी करने के लिए चम्बा में नयी राजधानी बसायी। लक्ष्मीनारायण का मंदिर भी बना। देवता की मूर्ति गढ़ने के लिए दस राजकुमार पत्थरों की तलाश में निकले। विंध्यगिरि में डाकुओं ने नौ राजकुमारों को मार डाला। बचे हुए एकमात्र राजकुमार ने वही पत्थर लाकर विग्रह की प्रतिष्ठा की। बाद में उसी राजकुमार युगाकर के हाथों राज्य-भार सौंपकर राजा साहिल वर्मा स्वयं संन्यासी हो गये।

लक्ष्मीनारायण के मंदिर के पास चर्पटनाथ नामक एक योगी का मंदिर भी है। चम्बा के निवासी उनकी पूजा करके अनेक प्रकार की खेल-कूद प्रतियोगिताओं का आयोजन करते हैं। सुनने में आया है कि पोलो के खेल में चम्बा की टीम ने भारत की प्रतिष्ठा बढ़ायी है। अब, स्वाधीन भारत में चम्बा हिमाचल प्रदेश का एक ज़िला भर रह गया है। यह 3,125 वर्ग मील में फैला

हुआ है। जनसंख्या 2,10,000 है। हिमालय में दो हज़ार फुट से लेकर इक्कीस हज़ार फुट तक के पार्वत्य अँचल में इसका विस्तार है। ज़िले का प्रधान नगर भी चम्बा ही है।

चम्बाधिपति का राज्य नहीं रहा, इसी से राजमहल भी श्रीहीन हो गया। चमक-दमक, धन-मर्यादा कुछ भी नहीं बचा। अब राज-भवन में कॉलेज और पुस्तकालय है। चम्बा की प्राचीन गरिमा अब यत्नपूर्वक म्यूज़ियम में सुरक्षित है। चम्बा के एक राजा भूरि सिंह ने पहले ही इस संस्था का निर्माण कर लिया था, इसलिए उन्हीं के नाम पर इसका नामकरण हुआ है। कांगड़ा, बसौली और पहाड़ी चित्रकला के अनेक अत्यंत सुंदर नमूने यहाँ संगृहीत हैं। म्यूज़ियम के पास ही अस्पताल है। यह अस्पताल पूर्व में राजा श्याम सिंह ने बनवाया।

हमने दिनभर घूम-फिरकर शहर देखा। उसी के बीच पी. डब्ल्यू. डी. के दफ्तर में जाकर दुर्गेठी के बंगले में ठहरने के लिए परमिट भी ले आया। वहाँ पता चला कि आजकल चम्बा से भरमौर तक जीप चलती है। 44 मील का रास्ता है। एक ही दिन में पहुँचा देती है। वहाँ से मणिमहेश तक की पैदल यात्रा में केवल दो दिन लगते हैं। यह सूचना पाकर हिमाद्रि खिल उठा। उसने कहा--"तब तो इधर दो दिन बच जाएँगे, उधर और कहीं घूमा-फिरा जायेगा।"

दफ़्तर के एक कर्मचारी ने जीपवालों से बातचीत करके सब ठीक कर देने का आग्रह प्रकट किया। "वे डेढ़ सौ रुपये माँगते हैं" यह सुनकर मैंने और कोई बात नहीं की। मन-ही-मन प्रसन्नता का अनुभव किया। पैदल चलने की आशा से मन उत्सुक हो उठा।

बाद में, इस रास्ते की पैदल यात्रा में पता चला कि चम्बा शहर में बैठे उन तमाम अफ़सरों को ठीक-ठीक कोई जानकारी नहीं है। भरमौर तक जीप के जाने का रास्ता उस समय तक तैयार ही नहीं हुआ था। लेकिन उस रास्ते पर चम्बा से 22 मील आगे गहरा तक बस से जाया जा सकता है। अतः पता लगाकर यह तय हुआ कि अगले दिन सवेरे की बस से रवाना हुआ जायेगा। पी.डब्ल्यू.डी. के एक कर्मचारी ने साथ जाकर बस पर सीट रिज़र्व करा दी। आग्रहपूर्वक हमें अपने घर भी ले गये। चाय पिलायी, भुट्टा खिलाया। अतिथि-सेवा से उन्हें आनंद हुआ, हम लोगों को भी तृप्ति मिली।

सवेरे सवा पाँच बजे बस चलती है। हम लोग चार बजे ही उठकर तैयार हो गये। तब मूसलाधार वृष्टि हो रही थी।

हिमाद्रि चिंतित हो गया, "यही तो! बस-स्टैंड तक सामान ले जाने

के लिए साढ़े चार बजे कुली के आने की बात थी। इस मूसलाधार बारिश में आयेगा क्या ?"

मैंने कहा, "चिंता करने से क्या लाभ है ? देखा जायेगा, आता है या नहीं। आ जाये तो अच्छा है, नहीं तो कोई प्रबन्ध हो जायेगा। बस-स्टैंड तो पास ही है।" सचमुच कुली नहीं आया। बरसाती लपेटकर हिमाद्रि बस-स्टैंड चला गया। इस पानी में कोई आने को राज़ी नहीं हुआ। अन्त में टिकट कॉउंटर के आदमी की मदद से उसने एक कुली का प्रबन्ध कर लिया। सामान थोड़ा ही था। दो आदमियों का मामूली बिछावना, कुछ कपड़े-लत्ते, बिस्कुट वगैरह खाने का सामान। शेष असबाब डाक-बंगले के चौकीदार के पास रख दिया गया। सात-एक दिन की तो बात थी।

वर्षा के कारण बस के चलने में देर हुई। वर्षा लगातार हो रही थी। कभी कम हो जाती, कभी प्रचंड रूप धारण कर लेती।

बस में बैठा हिमाद्रि उदास मुँह बनाये जाने क्या सोच रहा था। मैंने उससे पूछा। वह बोला, "यह भयानक वर्षा आरम्भ हो गई है। मणिमहेश पर ऊपर जाकर तो कुछ भी न देखा जा सकेगा।"

मैंने कहा, "चिंता करने से क्या होगा? लेकिन मुझे दृढ़ विश्वास है कि मणिमहेश निश्चय ही स्पष्ट दर्शन देंगे। हिमालय की करुणा अनंत है, यह जान लो। सितम्बर के इन दिनों में नीचे वर्षा होने में आश्चर्य क्या है?"

इरावती के किनारे-किनारे बस चलती रही। नदी का स्फटिक-स्वच्छ नीला जल वर्षा के कारण मटमैला हो गया था। चौदह मील की यात्रा के बाद बस रुक गयी। रास्ते के पास कई मकान थे। नदी के ऊपर इस पार से उस पार तक लोहे का झूलता हुआ पुल था। जगह का नाम था—बग्गा-पुल। इस पुल पर बस नहीं चलती। पारले पार दूसरी बस लेनी होगी। सौभाग्य से वर्षा रुक गयी। झोला लेकर उस पार दूसरी बस में जा बैठे। हिमाद्रि ने झटपट आगे बढ़कर बस में जगह रोक ली।

नदी के पारले पार से और भी आगे आठ मील जाने पर गेहरा गाँव मिलता है। हम साढ़े ग्यारह बजे वहाँ पहुँच गये। कुछ दुकान-मकान, सराय। एक पहाड़ी नदी आकर इरावती के साथ मिल गयी है। पहाड़ के अंग-लगे ऊँच-नीचे मकान, डाक बंगला। ज़रा ऊँचाई पर वन-विभाग का नया छोटा-सा मकान, एक के बाद एक तीन कमरे। हम वहीं टिक गये। जल्दी-जल्दी दोपहर के खाने का कुछ प्रबन्ध किया गया। हमारे साथ जो सामान था, उसे ले जाने के लिए चौकीदार ने एक आदमी का प्रबन्ध कर दिया। वह दस रुपये

लेगा। भरमौर तक पहुँचा देगा।

यहाँ से केवल छह मील की दूरी पर दुर्गेठी है। आज की रात वहीं बिताने की बात है। कल दुर्गेठी से 15-16 मील चलकर भरमौर पहुँचा जायेगा। भरमौर से मणिमहेश 21 मील है, दो दिन का पैदल रास्ता।

हिमाद्रि कहता है, "यह क्या है ? तब तो तीन ही दिनों में हम पहुँचे जाते हैं।"

गेहरा में अधिक समय तक विश्राम करने की इच्छा नहीं हुई। सामने पद-यात्रा है। केवल छह मील होने पर भी आज के लिए राह चलने का काम खत्म करके विश्राम-स्थल तक पहुँचने में ही कल्याण है। इसके अलावा, आसमान भी बादलों भरा है। कौन जाने, फिर कब वर्षा हो जाये। झटपट चल पड़ते हैं।

पद-यात्रा आरम्भ होती है। मन में गहरा आनन्द है। धीरे-धीरे आगे बढ़ता जा रहा हूँ। रास्ता नदी की उपत्यका से होकर जाता है। जल-धारा की तरह पहाड़ का रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा है। चढ़ाई-उतराई नहीं है। मामूली पहाड़ी रास्ता। पहाड़ पर पेड़-पौधे कम हैं। भुरभुरी मिट्टी है, कंकड़ हैं, छोटे-बड़े अनेक प्रकार के पत्थर हैं। दोनों ओर के पहाड़ सीधे खड़े हैं। दर्रे-दर्रे से होकर नदी नीचे उतरती है।

नदी, पहाड़ और शांत प्रकृति के साथ अन्तर का सुर मिलाकर अपने में खोया चला जा रहा हूँ।

दुर्गेठी पहुँचने से कई मील पहले ही फिर पानी बरसने लगा। पानी में बरसाती पहन कर बढ़ चला। छाता खोलना कठिन था। हवा का झोंका उसे उड़ा ले जाता। आँखों पर और चेहरे पर पानी झपट्टा मार रहा था। रास्ते पर भी पानी की धारा बह रही थी। इस तरह से राह चलने में भी आनन्द है। लेकिन रास्ते में एक भी मनुष्य नहीं दिखता था। मैंने हिमाद्रि से कहा, "इधर कोई बस्ती नहीं क्या ?"

जब दुर्गेठी पहुँचे तो वर्षा और तेज़ हो गयी।

नदी से 50-60 फुट की ऊँचाई पर पी. डब्ल्यू. डी. का डाक बंगला था। नदी की ओर बरामदा था। बरामदे में जाकर मैंने बरसाती उतारी, हाथ-मुँह पर पड़ा पानी झाड़ा। पास-पास दो कमरे थे। कुछ हाथ की दूरी पर रसोई घर था। चौकीदार आया। उसने एक कमरा खोल दिया। बगलवाले कमरे में भी कुछ लोग थे। हमारी आवाज़ सुनकर बाहर निकल आये। स्थानीय अफसर थे। अभी ही नये-नये यहाँ आये हैं। उन्होंने आश्चर्य से पूछा, "आप

आये कैसे ?"

"क्यों ? पैदल आ गया।"

"ऐसी वर्षा में।"

"रास्ते में पानी बरसने लगा। छाता और बरसाती साथ है। इसके अलावा पहाड़ों में बरसात पड़ जाने में अचरज क्या है ?"

उन्होंने चिंता प्रकट करते हुए कहा, "लेकिन यह काम आपने बिल्कुल ही ठीक नहीं किया। यह तो ठीक है कि पहाड़ पर जब-तब पानी बरस जाता है। ज़रूरत पड़ने पर बरसते पानी में भी चलना पड़ता है। लेकिन आप जिस रास्ते से आये, पानी बरसने पर उधर भयानक पत्थर टूट कर गिरते हैं। इसी से पानी बरसने पर लोग उस रास्ते से नहीं आते-जाते।

मैंने कहा, "जाने दीजिये, हम लोग तो अच्छे-भले पहुँच ही गये। वह तो कहिये, हमें इस बात का पता नहीं था, नहीं तो आज हम दुर्गेठी पहुँच ही न पाते। यह बारिश तो आज रुकनेवाली नहीं है। घटाएँ और गहरी होती जा रही हैं।"

बात खत्म होते न होते पास ही कहीं पहाड़ के टूट कर गिरने की भयानक आवाज़ सुन पड़ी।

अफसर चौंक पड़े, "सुना आपने ? आप लोग खूब बचे।"

उन सज्जन के साथ परिचय हुआ। उनका नाम था बी.एन. मेहता। चाय पीते-पीते बातें होने लगीं कि हम लोग कहाँ जा रहे हैं।

बाहर लगातार वर्षा हो रही थी। इरावती के जल-स्रोत की प्रचंड ध्वनि सुन पड़ती थी।

गेहरा में पैदल रास्ते की दूरी का हिसाब लगाकर हिमाद्रि ने कहा था, "तीन दिनों में तो मणिमहेश पहुँच जायेंगे।"

लेकिन तीन रातें इस दुर्गेठी में ही कट गयीं।

पहुँचने के बाद आसमान फाड़कर जो पानी बरसना शुरू हुआ तो सारी रात बरसता ही रह गया। सवेरे उठ कर देखा तो लगा कि वर्षा के रुकने का कोई लक्षण नहीं है। चारों ओर अस्पष्ट अन्धकार। वृष्टि की धारा प्रचंड वेग से, तीखे तीर की तरह, पहाड़ के कलेजे में बिंध रही थी। कल-कल शब्द करती, चारों ओर वृष्टि की तीव्र धारा गिर रही थी। नदी में असंख्य बुलबुले उठ रहे थे। ऐसा लगता था, मानो खौलता हुआ पानी बहता जा रहा है। इरावती को देखकर पहचानना कठिन था। यह नीलवसना, उच्छल, हास्यमयी, अपरूपा सुंदरी के मृदु-मंद चरणों की गति नहीं थी। यह उन्मादिनी भैरवी

थी। गैरिक वसना—जिसके सहस्र करों में अगणित तीक्ष्ण अस्त्र थे। पहाड़ के हृदय पर निष्ठुर आघात करती, कलहास करती, भागी जा रही है।

जल-स्रोत का प्रचंड वेग! नदी में जो पत्थर निश्चिंत मन से आश्रय लेकर, सिर उठाये जाग रहे थे, जिन्हें घेर कर छोटी-छोटी लहरें श्वेत फेन की माला पहने खेलती रहती थीं; आज वे कहीं दीख नहीं पड़तीं। वे जल के तले अदृश्य हो गये हैं। चारों ओर भंवर हैं। चक्राकार घूम रहे हैं। डाल-पत्ते, कटी लकड़ियाँ, वृक्ष के तने, यहाँ तक कि डाल-पत्ते सहित विशाल वृक्ष भी जल के वेग से बहे आ रहे हैं और स्रोत तथा भंवर के पास क्षणभर चक्कर काटकर नीचे चले जाते हैं, आँखों की ओट। जैसे दाँत कुरेदने के तिनके हों। अचानक कभी दो-एक जीव-जन्तुओं के मृत शरीर भी दीख जाते हैं। सहज ही समझा जा सकता है कि जल का वेग हाथियों के दल को भी बहा ले जा सकता है।

नदी का जल, देखते ही देखते, निरंतर बढ़ता जा रहा है। दोनों पहाड़ों के पत्थर और उनकी देह इसके साक्षी हैं। पहाड़ के मस्तक से उसके शरीर पर बहती हुई अनवरत जलधारा नीचे उतर कर नदी में मिल जाती है। जिधर देखता हूँ, जल प्रपात दीखता है। अथवा कहीं घनघोर गर्जन के साथ पर्वत के अंश टूट कर गिर रहे हैं। गोला-गोली के समान असंख्य पत्थर लगातार ऊपर से लुढ़क आते और छिटक कर नदी में जा गिरते हैं, जल में जैसे विस्फोट होता है।

दिन भर हम सभी बरामदे से यह प्रलय-लीला देखते हैं। लगातार दो दिनों तक पहाड़ और नदी की ऐसी संहारिणी मूर्ति पहले कभी नहीं देखी थी।

मेहता कहते हैं, "देश की बहुत हानि हुई।" लेकिन एक का दुर्भाग्य दूसरे का सौभाग्य बनता है। इन दो दिनों में जितनी लकड़ी बह गयी, इसे रोकने तथा प्रयोग में लाने का कोई उपाय नहीं है। सब लकड़ी पाकिस्तान चली गयी। देश की एक लाख रुपयों से भी अधिक की हानि हो गयी।

दो महीने के बाद जब पहाड़ से नीचे उतरा तो पंजाब में प्रचंड बाढ़ का दुखड़ा सुनने को मिला।

दुर्गेठी के सामने, नदी के दोनों ओर के खड़े पहाड़ पास-पास ही थे, इसलिए दोनों किनारों का जल-प्लावन क्रमशः बढ़ता ही गया। पानी दस फुट से भी ऊपर चढ़ आया और सिर्फ बीस-पच्चीस फुट ऊपर बड़ा रास्ता था। उसी के पास दो-तीन फूस की झोंपड़ियाँ थीं, दुकानें थीं। जिस तरह से पानी बढ़ रहा था, उससे दुकानदार और स्थानीय लोग घबरा गये। रात में उन

लोगों ने बंगले के बरामदे और राजभवन में आश्रय लिया। इसके इलावा, पहाड़ से पत्थर पड़ने की आशंका भी थी। डाक बंगले का इलाका उधर की अपेक्षा, कुछ निरापद था।

इस भयानक प्राकृतिक दुर्योग से हिमाद्रि के मन में भी गहरी चिंता थी। उसने कहा, "यहाँ इस तरह रुक जाना पड़ा, कुल एक महीने की तो छुट्टी है।"

मैंने कहा, "हिमालय पर आकर इन बातों की चिंता नहीं की जाती। इससे मन का आनंद खो जाता है। लेकिन, नदी का स्वरूप देख रहे हो ? पहचान में ही नहीं आती है। याद रखो, जब मनुष्य को क्रोध आता है तो उसका चेहरा भी इसी तरह लाल हो जाता है।"

हिमाद्रि ने आँखें सिकोड़ कर देखा। पूछा, "क्यों! इस बीच एक दिन भी गुस्सा किया है मैंने ?"

मैंने कहा, "बिल्कुल नहीं। इसी से तो तुम समझ भी सकोगे, यही जान कर कह रहा हूँ।"

इधर दूसरी विपत्ति उठ खड़ी हुई।

दुर्गेठी पहुँचने के बाद ही, उस दिन तीसरे पहर, गेहरा के कुली ने आकर कहा, "खुराकी नहीं है, दस रुपये चाहिए।"

मैंने कहा, "भरमौर पहुँचा देने पर तुम्हें दस रुपये देने की बात तय हुई थी। वह तुम्हें मिलेगा। खाने की चिंता मत करो। हम लोगों के लिए जो खाना बन रहा है, उसी में तुम भी खा लेना।"

तब उसने बताया कि यहाँ पास ही उसका कोई आत्मीय रहता है। उसी के यहाँ वह रात बितायेगा, दूसरे दिन सवेरे आकर हम लोगों के साथ रवाना होगा। आत्मीय को देने के लिए उसे रुपयों की ज़रूरत है।

उसकी बात सुनकर मन में एक संदेह उठ खड़ा हुआ। फिर मैंने सोचा, गरीब आदमी है। शायद अचानक कोई खास ज़रूरत आ पड़ी हो।

मैंने पाँच रुपये दे दिये और कहा, "देखो, मैं बहुत सवेरे ही यहाँ से चल दूँगा। रात चाहे जितनी हो जाये, यहीं वापिस आकर सोना।"

उस समय तो यह पता नहीं था कि इस तरह पानी पड़ता रहेगा और यहाँ अटक जाना पड़ेगा। लेकिन दो दिन बाद भी वह आदमी नहीं दीखा। उसने कोई खबर भी नहीं दी।

दो दिन बाद वर्षा कम हुई, बीच-बीच में रुक भी जाती थी। तब भी पहाड़ के ऊपर पत्थरों का लुढ़कना जारी रहा। बंगले में बैठा-बैठा मैं यह ठीक से देख पाता था।

रास्ता जन-शून्य था। मेहता ने कहा एक दिन और बिताकर ही रवाना होइये। कुली का कोई प्रबंध मैं कर दूँगा। आप लोग तो कोशिश करके भी नहीं पा सकेंगे। इधर के लोगों का मनोभाव विचित्र है। लोग बहुत गरीब हैं। रुपये कमाने का सुयोग भी बहुत कम है। मौका मिलने पर भी मेहनत नहीं करना चाहते। खासतौर से गाँव छोड़कर वे और कहीं नहीं जाना चाहते, चाहे उन्हें कितने ही रुपये क्यों न दीजिये। अजीब बात है।

इस मार्ग पर आगे बढ़ते हुए हमें भी यही जानकारी मिली।

**23 सितम्बर, 1962**

सवेरे-सवेरे निरभ्रनील आकाश दीख पड़ा। मन के मेघ भी छंट गये। पिछले तीन दिनों का दुर्योग किस्सा दुःस्वप्न की तरह जान पड़ा। नया कुली खाना-पीना निबटा कर आया। हम लोगों ने भी चाय के साथ रोटी-सब्जी खा ली। रास्ते में दोपहर को खाने का झमेला नहीं रखा।

नौ बजे यात्रा आरम्भ हुई। नदी के किनारे से रास्ता था। नदी का स्रोत और जलभार कम हो गया था। किनारे के पत्थर इसका प्रमाण थे। जल के भीतर से भी दो-एक पत्थर सिर उठाकर झाँकने लगे थे।

रास्ते पर लुढ़क आये छोटे-बड़े बहुतेरे पत्थर पड़े हुए थे। एक जगह रास्ते का थोड़ा-सा हिस्सा भी टूट कर नदी में जा गिरा था। बहुत दूर तक पहाड़ पर चढ़ कर उस जगह को पार करना पड़ा। मैंने देखा रास्ते में लोगों का आना-जाना भी आरम्भ हो गया। जैसे रात बीतने पर पक्षी, अपने-अपने बसेरे छोड़कर निकल पड़ते हैं।

मैं देखता हूँ। दोनों तरफ की गिरिश्रेणियों को बींधकर नदी उतरती है। नदी के साथ-साथ रास्ता भी चलता है। उसी रास्ते पर, विपरीत दिशा से एक गद्दी परिवार आया। ऐसा लगता है कि ये भी पहाड़ भेदकर आये हैं। पुरुषों का लम्बा-चौड़ा बलिष्ठ शरीर है, मनोहर रूप है। किसी के माथे पर बड़ी-सी पगड़ी, किसी की गोल टोपी है। पहनावे में घुटनों तक झूलती अंगरखे-जैसी चीज़ है। कमर में काले रोयें की मोटी रस्सी है, जिसमें ऐंठन पर ऐंठन पड़ी हुई है। वे हिलते-डुलते और लम्बे डग भरते चले आ रहे हैं। राह चलते भी दल के मुखिया के हाथों में बड़ा-सा हुक्का है। वह तम्बाकू का कश लेता चला आ रहा है। ऐसा लगता है, जैसे हिमालय के रास्ते पर चलना इनके लिए आराम-कुर्सी पर विश्राम करने जैसा है।

साथ में औरतें भी हैं। एक युवती भी। उसके शरीर का रंग गोरा है,

आँख-मुँह की गढ़न भी वैसी ही सुडौल है। अपूर्व सुन्दरी है। गले और नाक-कानों में उसने आभूषण पहन रखे हैं। लेकिन उसकी पोशाक ठीक गद्दी रमणियों जैसी नहीं है। फूलदार सिल्क का रंगीन घाघरा और कुर्ता। माथे पर ओढ़नी। पंजाबी औरतों जैसी पोशाक, शायद शहर से लौटी आधुनिका गद्दी रमणी है। बेशक, उसकी कमर में ऊन की रस्सी बंधी हुई है।

मैंने हिमाद्रि से कहा, "ठीक कहते हो, यहाँ का सौंदर्य तस्वीर की तरह ही जान पड़ता है। इन्हीं लोगों के देश में हम आये हैं। चम्बा ज़िले की सब-तहसील भरमौर इन गद्दियों की ही वास भूमि है। इसी से इस इलाके का दूसरा नाम 'गदेरन' भी है।"

हिमाद्रि ने कौतूहल के साथ पूछा, "लेकिन इन्होंने कमर में कमरबंध जैसी वह क्या चीज़ बाँध रखी है ? औरत-मर्द सबने ?"

"यही तो गद्दियों की पोशाक का प्रधान अंग है। जैसे तुम्हारे गले में जनेऊ है। उसे ये लोग डोरा कहते हैं। वह ऊन की बनी लम्बी रस्सी है। शायद 40 से 50 गज लम्बी है। उसका वज़न भी दो-तीन सेर होगा। देख ही रहे हो कि औरतों ने भी डोरा कमर में लपेट रखा है। बेशक, उनके डोरे की लम्बाई कम होती है। पहाड़ों में रहते या रास्ता चलते वह उनके कई काम आता है। उससे भेड़-बकरियों को बाँधते हैं। पहाड़ से किसी के गिर जाने पर इसी के सहारे ऊपर खींच लेते हैं। यह तम्बू लगाने के काम भी आता है, साथ ही यह इतना मजबूत होता है कि इसे किसी पेड़ या पत्थर में बाँधकर वे स्वयं भी इसी के सहारे दुर्गम पहाड़ों पर चढ़-उतर सकते हैं।"

हिमाद्रि ने कहा, "ऐसा लगता है, जैसे संन्यासी की जटा काट कर कमर में लपेट ली गयी हो।"

"वाह! तुमने खूब पहचाना। लोग उसे शिवजी की जटा ही तो कहते हैं। कहने का कारण भी है। एक बड़ी सुन्दर कहानी है। ये सभी शिव भक्त हैं। इसी से भरमौर का दूसरा नाम 'शिव भूमि' है। तुम मणिमहेश जा रहे हो, शिव के राज्य में। राज्य का नाम 'शिवभूमि' हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ? कुछ लोगों के मत से यह अंचल ही शिव की गद्दी है, इसी से इन का नाम 'गद्दी' पड़ा है।"

"इन लोगों का चेहरा तो पहाड़ी लोगों की तरह बिल्कुल नहीं है। ये लोग यहाँ आये कैसे ?" हिमाद्रि ने पूछा।

इन लोगों का जितना इतिहास जाना गया है, वह बाद में सुनना, अभी ज़रा उन्हें रोक तो लो। शायद फोटो खिंचवाने में उन्हें आपत्ति न हो।

चेहरे से और वेशभूषा से जबर्दस्त जान पड़ने पर भी उनके मुँह पर और आँखों में हँसी-खुशी है, सरल भाव है।

पास आने पर हमने भी हँसी-खुशी से उनकी ओर देखा। वे भी हँसकर रुक गये। भाषा की रुकावट थी। फिर भी इशारे से बातें हुईं, फोटो भी खींची गयी।

उस दिन गद्दियों के बारे में हिमाद्रि का कौतूहल मैं पूरी तरह से शांत नहीं कर सका था। जितना भर मेरा जाना-बूझा था, मैंने उसे बताया था।*

राहुल सांकृत्यायन के मत से गद्दियों के पुरखे शक जाति के थे। आर्यों के गोत्र के थे। प्राचीन काल में ये मध्य एशिया में घूमते-फिरते रहनेवाले यायावर थे। वे घोड़ों और भेड़ों का समूह लेकर वहाँ चारों ओर भटकते रहते थे। अचानक एक दिन उनकी शांत जीवन-यात्रा के मेघरहित आकाश में प्रबल पराक्रमी हूण जाति के आक्रमण का तूफान आ गया। पशुओं का रेवड़ लेकर शकों का समूह इधर-उधर भागने लगा। यह दो हज़ार बरसों से भी ज़्यादा पहले की बात है। उन्हीं शकों के कुछ दल दक्षिणी इलाके में, भारत की ओर चले आये। कुछ शाखाएँ भारत के समतल प्रांतों तक उतर गयीं। बलशाली दलपतियों ने वहाँ जाकर अपने राज्य भी स्थापित किये थे। भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर उनके नाम भी बने रह गये हैं–भग, कदाफिस, कनिष्क, हुविश्क, वासुदेव इत्यादि। लेकिन जो लोग पशु-पालन की अपनी जातीय वृत्ति नहीं छोड़ सके, उन्हीं के वंशधर आज भी अपने पशुओं का दल लेकर हिमालय के पहाड़ों पर इधर से उधर घूमते रहते हैं। उनके रक्त में यायावरों का सदा चंचल स्रोत प्रवाहित होता है।

इन्हीं का एक दल हिमाचल प्रदेश के बुशहर और टिहरी के इलाके में अब भी घूमा करता है–घोड़ों का झुँड लेकर नहीं, भैसों का रेवड़ लेकर। उन लोगों को 'गूजर' कहा जाता है। उन्होंने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। एक दूसरी शाखा चम्बा, मंडी, लाहुल वगैरह इलाकों में विचरण करती है। उनका नाम गद्दी पड़ा। ये भी पशुपालन करते हैं, लेकिन न तो घोड़े रखते हैं, न भैंसें, इनके पास भेड़-बकरियों का झुंड होता है। भारत के शक-सम्राट के पौत्र वासुदेव का अनुकरण करते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया है।

* हाल ही में प्रकाशित भारत सरकार की हिमाचल प्रदेश की सेंसिज रिपोर्टों में से A Village Survey of Bharmaur और W.H. Newell लिखित Report on Scheduled Casts and Scheduled Tribes (A Study of Gaddi-Scheduled Tribes and affiliated Casts) से इस सम्बंध में अधिक तथ्यों की जानकारी पायी जा सकती है।

समय पाकर यायावर गद्दियों में से भी बहुतों ने मिट्टी की पुकार का उत्तर दिया। पशु-पालन के साथ ही खेती-बाड़ी की ओर भी उनका झुकाव हुआ। उन्होंने तंबू छोड़कर घर बनाये। अपना अलग समाज और निवास स्थान भी बना लिया। भरमौर का इलाका इन गद्दियों की ही निवास-भूमि है। लेकिन अब भी इनकी प्रधान सम्पत्ति पालतू पशु ही हैं—भेड़ और बकरियाँ। जाड़ों में बर्फ़ पड़ने से पहले ये अपने पशुओं को लेकर गाँव छोड़ देते हैं और कांगड़ा, सुकेत, मंडी वगैरह हिमाचल के निचले इलाकों में दल बाँधकर चले जाते हैं। ये शीत से डरकर अपनी सुख-सुविधा की दृष्टि से नहीं, भेड़-बकरियों के चरागाह की तलाश के लिए ऐसा करते हैं। साल के अन्य समयों में ये चम्बा और लाहुल में ही अपने पशुओं को चराते हैं। भेड़-बकरियों को चराने के लिए इस तरह घूमने-फिरने के कारण खेत के काम में भी उनका मन उतना नहीं लगता। दूसरी ओर ग्रामीण जीवन का स्वाद पाकर कुछ लोग कताई-बुनाई, सोनारी या लोहारी के काम में लग गये। भरमौर में जो लोग ये काम करते हैं, वे सीपी और रेहाड़ा जाति के हैं। कुछ लोगों का मत है कि वे गद्दी सम्प्रदाय के अंतर्गत नहीं आते। उनको निम्न वर्गीय माना जाता है। लेकिन जैसे ब्राह्मणेतर जाति के लोग जनेऊ पहनते हैं, वैसे ही इन लोगों ने भी कमर में डोरा बाँधना शुरू कर दिया है।

हिमाद्रि ने पूछा, "शिवजी की जटा की कथा क्या है ?"

मैंने कहा, "राहुल जी का ऐसा अभिमत होने पर भी गद्दियों का अपना विश्वास यह है कि उनके पुरखे राजस्थान से यहाँ आये थे। 'चम्बा वंशावली' में चम्बा के पहले राजा का नाम 'जयस्तंभ' दिया गया है। कहते हैं कि उनका जन्म राजपूताना के एक राजवंश में हुआ था। पिता के साथ मनमुटाव होने पर उन्होंने अपना देश छोड़ दिया। वह संन्यास लेने को तैयार हुए, लेकिन उनके गुरुदेव ने उन्हें ऐसा करने से मना कर दिया। राजपूत जीवन के आदर्श के अनुरूप आचरण का आदेश देते हुए उन्होंने राजकुमार को अपने दल-बल के साथ हिमालय के इस चम्बा इलाके में चले जाने को कहा।

कुमार जयस्तम्भ इसी मार्ग से कुछ आगे जाकर जब 'खड़ामुख' के निकट पहुँचे तो उनकी भेंट एक ऋषि से हुई। ऋषि को पहले ही शिव का स्वप्नादेश मिला था कि वह इस अँचल में जयस्तंभ का स्वागत करें और उपहार के रूप में उन्हें शिव की अंग सज्जा—टोप (टोपा), चोला (अंगरखा की तरह का लंबा चोगा) और डोरा (कमर में बाँधने की ऊनी रस्सी) दें। यह

शिव-वेश धारण करके जयस्तंभ भरमौर आये और यहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। पौरोहित्य करने के लिए उनके साथ कुछ ब्राह्मण भी आये थे। योद्धा के रूप में बहुत से क्षत्रिय भी साथ थे। इन सब ने भी वही शिव-वेश ग्रहण किया। उन्होंने अपने आप को शिव-भक्त के रूप में प्रचारित भी किया। क्रमशः शिव की इस भूमि में, शिव की गद्दी में, इन लोगों का नाम भी गद्दी पड़ गया।

एक अन्य मत के अनुसार, जयस्तम्भ के पिता का नाम 'मरु' था। सबसे पहले भरमौर में आकर वही बसे थे।

गद्दियों में एक और धारणा भी है कि 760 ईसवी में राजा अजियवर्मन के राज्यकाल में गद्दियों के अनेक ब्राह्मण और क्षत्रिय पूर्वज दिल्ली और पंजाब से यहाँ चले आये थे। हिमाद्रि ने कहा, "हो सकता है कि ये लोग विभिन्न समयों में दल बाँधकर यहाँ आये हों।"

मैंने कहा, "मुझे भी यही लगता है कि ऐसा ही हुआ होगा। मोटे तौर पर, गद्दी लोग यहाँ के मूल निवासी नहीं हैं। एक हज़ार, डेढ़ हज़ार या उससे भी अधिक बरसों पहले, बाहर से आकर इन लोगों ने यहाँ बसना शुरू किया। राजपूताना, पंजाब या दिल्ली की ग्रीष्म-प्रधान समतल भूमि को छोड़कर कैसे उन लोगों ने इस सुदूर और दुर्गम पार्वत्य हिमाचल में आकर एक नवीन स्वतंत्र जाति की प्राण-प्रतिष्ठा की, यह सोचकर आश्चर्य होता है। भरमौर के गद्दी अपने को ब्राह्मण, ठाकुर, क्षत्रिय, राजपूत अथवा राणा कहते हैं। लेकिन Newell का खयाल है कि ब्राह्मण लोग ठीक-ठीक गद्दी जाति के अंतर्गत नहीं हैं। क्षत्रिय अथवा राजपूत ही असली गद्दी हैं। फिर भी, आजकल सभी भरमौरवासी गद्दी की मर्यादा पाना चाहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि गद्दियों के पूर्वज हिन्दू धर्मावलंबी थे। यहाँ भी वे निष्ठापूर्वक हिन्दू धर्म का पालन करते हैं। लेकिन वे सभी शैव हैं। उनके प्रधान देवता शिव हैं। वे स्वयं भी शिव-पार्वती की अंग सज्जा के अनुरूप वेश-भूषा धारण करते हैं। इस कारण अब भी उनका दृढ़ और श्रद्धापूर्ण विश्वास है।

यद्यपि भरमौर में अन्य देवी-देवताओं के मंदिर भी हैं, लेकिन प्रधानता शिव-पूजा की ही है। राजस्थान अथवा पंजाब में शैव धर्म का इतना अधिक प्रचार या प्रभाव कहाँ है ? इतिहास में अवश्य यह पढ़ने को मिलता है कि अलेग्ज़ेंडर के आक्रमण के समय पंजाब के एक भाग में शिवाई या शिवोई (Sibae or Siboi) नामक एक उपजाति का निवास था। वे अपने हाथों में त्रिशूल के समान एक लौह-दंड रखते थे और अजिन अर्थात् मृगचर्म पहनते

थे। Curtius, Disdorus आदि प्राचीन लेखकों ने भी इनका वर्णन किया है। पतंजलि ने भी शैव के रूप में इनका उल्लेख किया है। इनका निवास उचीदा ग्राम अथवा शिवपुर या शैवपुर में था। कहा नहीं जा सकता कि इन गद्दियों के पूर्वज वे ही थे या नहीं। लेकिन उनकी जिस वेश-भूषा का वर्णन मिलता है, उसे ये लोग नहीं धारण करते। और फिर यह भी हो सकता है कि हिमालय शिव की निवासभूमि है। मणि महेश शिखर भी चम्बा कैलास के नाम से प्रसिद्ध है। इसी से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय गद्दियों के पूर्वज यहाँ आये, उस समय यहाँ जिन आदिवासियों का निवास था उनके देवता थे–शिव। हो सकता है कि वे अनार्य ही रहे हों। राजकुमार जयस्तंभ ने इस सुदूर पार्वत्य प्रदेश में युद्ध-विग्रह के द्वारा राज्य-स्थापना की चेष्टा न करके स्थानीय शैव धर्म को स्वीकार कर लिया हो। इससे सहज ही उनका काम भी बन गया। राजा देवता का ही प्रतिनिधि होता है। अतः उन्हीं देवता की वेश-भूषा में सज्जित करके जन-साधारण ने उनका वरण किया। संभवतः यही इस उपाख्यान की मूल कथा है। कारण जो भी हो, इनकी वेश-भूषा में एक विशिष्टता है। विशेषतः कमर में बाँधे जानेवाले इस डोरा–शिवजी की जटा में।

यह तो धर्म और वेश-भूषा की बात हुई। उन लोगों ने क्रमशः पार्वत्य जीवन-धारा को भी बड़े सहज भाव से अपना लिया। ये मध्य एशिया से उतरकर आये हों या भारत के समतल प्रदेश में घूमकर हिमालय पर चढ़े हों, इनकी धमनियों में सचमुच ही यायावरों की रक्त-धारा का प्रवाह है। इसी कारण स्वभावतः ये कष्ट सहिष्णु हैं। ये सब तरह की जलवायु सहन कर सकते हैं। हो सकता है कि इसका एक कारण सैनिक पेशे को अपनाना भी हो। दूसरी ओर पहाड़ी लोगों के समान ही ये सरल प्रकृति के, खुले मन के और हँसमुख हैं। गाने-बजाने और नाचने में सहज ही विभोर हो जाते हैं। जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्रियाँ भी इन्हें बहुत कम प्राप्त हैं। जो चीज़ें निहायत ज़रूरी हैं, उन्हें ये स्वयं तैयार कर लेते हैं।

गद्दियों की जीवनयात्रा की धारा मानो आँखों के सामने स्पष्ट हो जाती है। पहनने-ओढ़ने का बाहुल्य नहीं है। पुरुष सामान्यतः माथे पर पगड़ी बाँधते या कभी-कभी टोपी पहनते हैं--बुशहरी या कुल्लू कैप की तरह गोल, ऊपर से चपटी और सामने रंगीन मखमल वाली। बदन पर सूती कुर्ता या कमीज़ और उसके ऊपर पट्टू का कोट अथवा चोला, जो घुटनों के नीचे तक पहुँचता है। कमर में लिपटी रहती है काले ऊन की वही रस्सी--डोरा। कमर

में रस्सी लपेट रखने के कारण चोला या कोट पेट के ऊपर थैले की तरह झूल जाता है। उसे 'खुख' कहा जाता है। उस झोले में उनके छोटे-मोटे खुदरा सामान तो रहते ही हैं, यहाँ तक कि उसमें उन्हें भेड़ का बच्चा या बकरी ले जाते भी देखा गया है। वे पेट के पास अपना मुँह निकालकर कंगारू के बच्चे की तरह झाँकते रहते हैं। एक चोले में 20-25 गज़ पट्टू लगता है। वे कमर में पट्टू का पाजामा पहनते हैं, जिसकी मोहरी तंग होती है, जोधपुरी बिरजिस की तरह। गर्म देश में आने पर वे घुटनों के नीचे का हिस्सा खुला ही रखते हैं। पैरों में मोटे चमड़े का मजबूत देशी 'नागरा' पहनते हैं।

औरतें भी इसी तरह का पट्टू का चोला पहनती हैं; जिसे 'चोलू' कहते हैं। वह गॉउन की तरह सारे शरीर को ढककर नीचे तक झूलता रहता है। उनकी कमर में भी 'डोरा' लिपटा रहता है। चोलू के ऊपर वे प्रायः बिना आस्तीन का 'वेस्ट' पहनती हैं। माथे पर कपड़े का 'फेंटा' बाँधती हैं—उसे 'चादरू' कहा जाता है। सारा शरीर गहनों से भरा होता है। ऐसा लगता है कि उनके पास जितनी भी सम्पत्ति है, उसके लिए उनका शरीर ही सेफ डिपाज़िट वॉलेट का काम देता है। अवश्य, आजकल उनकी वेश-भूषा में परिवर्तन दीखने लगा है।

गद्दियों की जीवनयात्रा की धारा भी विचित्रता से भरी हुई है। जाड़ा आरम्भ होने के पहले ही, शुरू अक्तूबर में वे गदेरन का अपना घर छोड़कर झुँड-के-झुँड पहाड़ से नीचे की ओर उतर जाते हैं। ऐसा लगता है, जैसे गर्मियों के मौसम में बर्फ़ के गलने से पहाड़ी झरने उतर रहे हों। जाड़ों में पहाड़ के इस इलाके में सारा काम-धंधा बंद हो जाता है। खेत-खलिहानों में काम नहीं रहता। सबकुछ बर्फ़ से ढका रहता है। कोई दूसरा काम करके भी आमदनी की कोई संभावना नहीं रहती। भेड़-बकरियों के चरने के लिए भी घास का एक तिनका नही रहता। निर्जीव बनकर घर में बैठे-ठाले दिन काटने से क्या होगा ?

'चलो मुसाफिर बाँधो गठरी'—लोग अपने माल-असबाब लेकर, भेड़-बकरियों को हाँकते, सड़क पर निकल आते हैं। माल-असबाब ही क्या है ? साज-सामान, पोशाक ? वह तो शरीर पर ही है। वह उनके अपने हाथों का बुना हुआ है। अपने पालतू पशुओं की ऊन का। इसी से इन लोगों में एक विचित्र प्रथा बन गयी है। जिसकी भेड़-बकरियों से जिस रंग का ऊन मिलेगा वह उसी रंग के पट्टू के कपड़े पहनेगा। यह देखने में भी सुंदर लगता है। उनकी धन-सम्पत्ति उनके पालतू पशु ही हैं, उन्हीं के रंग से रंग मिलाकर न

रहेंगे तो और किसका रंग चढ़ेगा उन पर ? रास्ते का आश्रय? वह भी साथ ही चलता है। इन्हीं पशुओं के ऊन से बना कंबल, गर्दू। वह गर्म तो होता ही है, तोषक का काम भी देता है और बरसात से भी बचाता है। रास्ते में पहाड़ की गुफा मिल जाये तो अच्छा ही है, न मिले तो वृक्षों का आवरण तो है ही। वह भी नहीं है ? अपनी गोद फैलाये रास्ता तो है न। चलो, यहीं गर्दू लपेटकर, परम सुखशय्या पर, आनन्द से विश्राम करें। सिर के ऊपर नीले आसमान में, सिलमा-सितारा टंका शामियाना है। अगर अचानक वर्षा आ जाये ? क्या हुआ गर्दू का निर्भय आश्रय तो है ही। भोजन ? उसकी भी क्या चिन्ता है ? खेतों में भुट्टे की काफी फसल होती है। उसी के सत्तू पर सारा साल कट जाता है। थैले में, खाल के 'खल्टू' में भरा सत्तू रास्ते में साथ रहता है। नदी या झरना देखकर उसी के पास ये डेरा डाल देते हैं। पानी की कमी नहीं है। सिर्फ पकाने के लिए दो-एक बर्तन साथ रखने पड़ते हैं। जाड़ा लगता है ? या जंगल से साग-पात तोड़ लिया है ? हवा बचाकर, पत्थरों को जमाकर चूल्हा बना लो, आग जला लो। जंगल में लकड़ी की क्या कमी है ? कमर के डोरा में खुसी या हँसिया तो है ही। नाम जानते हो इसका ? 'द्राटू'। इसी से काटकर फौरन लकड़ी लिये आते हैं।

जंगल से लौट आये? कमर में खुसी वह लम्बी-सी चीज़ क्या है? जिसमें घुँघरू बँधे हुए हैं? अच्छा, बाँसुरी है। औरतें–'लाड़ी' खाना पकायें। चलो, पेड़ के नीचे उस पत्थर पर बैठकर बाँसुरी सुनाओ। मैदान की हरी घास की गद्दी पर भेड़-बकरियाँ आराम से ऊँघती रहें। तुम्हारा काला और भयंकर कुत्ता सिकुड़-सिमटकर तुम्हारे पाँवों के पास सोया हुआ है। शायद तुम्हारी बाँसुरी की तान उसके मन में भी स्पंदन उत्पन्न करे। फिर भी, कैसी सजग दृष्टि है उसकी। ज़रा-सी कोई आवाज़ सुनते ही चौंक उठता है। कान खड़े करके, मुँह घुमाकर, भेड़-बकरियों के झुंड की ओर देखता है। नहीं, सबकुछ ठीक है। फिर कुंडली मारकर मुँह छिपा लेता है।

बाँसुरी रुक क्यों गई? अच्छा, गाना आरम्भ करोगे? गाओ। अपना ही लोकगीत, आजकल का सिनेमावाला गीत नहीं।

*कपड़े धोआँ कन्ने रोआँ कुंजुआ, मुक्खों बोल जवानी ओ।*
*मेरे कुंजुआ मुक्खों बोल जवानी ओ।*
*हत्थाँ बिच रेशमी रुमाल चंचलो, बिच्च छल्ला निशानी ओ।*
*मेरिए ज़िंदे बिच्च छल्ला नशानी ओ। . . .*

"ओ कुंजुआ! कपड़े धोते हुए लगातार मेरे आँसू झर रहे हैं। चले आओ,

ऐजी, मुझसे बातें करो।"

"ओ चंचलो! तुम्हारे हाथों में रेशमी रूमाल है। उंगली में यह अँगूठी है। मेरा ही दिया यह चिरंतन प्रेमोपहार है।"

"ओ चंचलो! देखो, मेरी कज्जल-उज्ज्वल यही आँखें तुम्हारे मन को किस तरह मोहित करती थीं। अब विषाद-धन अश्रुभरे हमारे प्रेम का चिह्न तो रह गया है।"

"ओ चंचलो! तुम्हारे लाल-लाल हाथों में लाल चूड़ियाँ हैं, उन्हीं के बीच मेरे प्रेम का चिह्न यह सोने का कंगन जो है।"

"ओ कुंजुआ! आज आधी रात को मेरे पास मत आना। पाँच-पाँच भरी बंदूकें रखी हैं घर में--तुम्हारे ही कलेजे को निशाना बना कर।"

"चंचलो रे चंचलो! मैं तो आधी रात को ज़रूर आऊँगा। तुम्हारे लिए मेरा प्रेम अमर है। वे बंदूकें भला मेरा क्या कर लेंगी ?"

"ओ कुंजुआ! तुम बहुत दूर जा रहे हो। जाने से पहले अपने प्रेम का चिह्न एक अँगूठी मुझे देते जाना।"

"चंचलो रे चंचलो! इस तुच्छ चिह्न को लेकर क्या करोगी ? यह चम्बा देश सोने से भरा हुआ है। मैं तुम्हें गहनों से सजा दूँगा।"

"ओ कुंजुआ! अपना वादा निभाना—कल दिन के अन्त में मुझे छोड़कर चले मत जाना। तुम्हें अपने पास बनाये रखने के लिए मैं अपने इन प्राणों का ही उत्सर्ग कर दूँगी।"

"ओ चंचलो! कल दिन के अन्त में मुझे चले ही जाना होगा। बड़े-बड़े काम हैं—मुझे झटपट जाना ही होगा।"

प्रेम संगीत है, मगर उसी के बीच बंदूक का उल्लेख भी है। गद्दियों के पूर्वज इस देश में योद्धाओं के वेश में आये थे। पंजाब और राजस्थान सैन्य-बल के प्रधान केन्द्र थे। जयस्तंभ भी अपने साथ सेना लेकर ही आये थे। बाद में ज़िला चम्बा के राजाओं ने विजय-यात्राएँ कीं और राज्य-विस्तार किया, उसकी प्रधान शक्ति गद्दियों की सेना ही थी। यहाँ तक कि भरमौर से राजधानी के चम्बा नगर में स्थानांतरित होने पर भी, वहाँ चम्बा राज्य की सारी सेनाओं का नाम 'गद्दी सेना' ही बना रहा। अंग्रेज़ों के शासन-काल में भी ब्रिटिश सेना में गद्दी आर्मी को स्थान मिला। उसने समर-भूमि में वीरता प्रदर्शित की। गौरव अर्जित किया। इसीलिए इन के घरों में भी बंदूकें हैं, गीतों में भी हैं। दूसरी ओर, इनमें रक्त यायावरों का है। पथ का आकर्षण, कर्तव्य के प्रति निष्ठा, प्रेम का आवेदन भी नहीं स्वीकार करता। प्रेयसी को छोड़कर

वह दूर देश चला जाता है।

भेड़-बकरियों का दल लेकर वह नीचे उतरता है। सभी पुरुष, यहाँ तक कि छोटे बच्चे भी, अपनी शक्ति के अनुसार पीठ पर बोझा ढोते हैं। राह चलकर थके बच्चों या शिशुओं को वे पीठ के उसी बोझ पर बैठा लेते हैं। वाहक के कंधे के दोनों ओर पैर लटका कर बच्चा आराम से बैठा रहता है–आँखों में नींद भर जाने पर ऊँघता भी रहता है। एक के बाद दूसरे दिन वे राह पकड़कर नीचे उतरते जाते हैं। अपने ठिकाने तक पहुँचने में लगभग एक महीना लग जाता है। ऐसा नहीं है कि सभी दल एक ही ओर जाते हों। सब के अपने निश्चित स्थान हैं। कोई कांगड़ा की ओर चला जाता है, कोई काश्मीर के इलाके में, कितने ही तो पठानकोट के आसपास के गाँवों में चले जाते हैं। लगभग चार महीनों तक वहाँ रहना होता है। लेकिन वे आलसी बन कर नहीं बैठे रहते। वे गाँववालों के काम-धंधे में लग जाते हैं। कुछ लोग गृहस्थ के घरेलू कामों में, नहीं तो खेत-खलिहान के या किसी दूसरे काम में मदद करते हैं। वे छोटे-मोटे रोज़गार भी कर लेते हैं। पहाड़ पर अखरोट की भरपूर फसल होती है, जंगल से शहद इकट्ठा किया जाता है, इसके सिवा गर्दू–मोटे-मोटे कम्बल और पट्टू जानवरों की ऊन से तैयार होते हैं। इन्हें गाँववालों के हाथ बेचा जाता है। काफी मुनाफा होता है। निपुण व्यवसायियों के रूप में गद्दियों की प्रसिद्धि है। जो भी हो, राजस्थान और पंजाब की रक्त-धारा का प्रभाव जायेगा कहाँ ? पहाड़ी इलाकों में एक कहावत है–'गद्दी मित्तर भोला, दिन्दा टोपी मंगदा चोला' यानी ढीला-ढाला वह विशाल कोट।

मार्च का महीना आ गया। फिर गठरी बाँधो। लौट चलो पहाड़ पर गदेरन में। वहाँ जाड़े का मौसम बीत गया है, बर्फ़ गलने लगी है। फिर खेत का काम। घर की पुकार। एक-आध महीना फिर रास्ते में गुज़र जाता है। ग्रीष्म के आरम्भ में वे फिर भरमौर के इलाके में लौट आते हैं। गाँव फिर गुलज़ार हो जाते हैं। मानो अपने घोंसलों में पक्षी लौट आये हों। धान के खेत चादर से मुँह ढक कर फिर हँसने लगते हैं। समतल प्रदेश से साथ लायी हुई छोटी-मोटी कुछ खूबसूरत चीज़ें–कमाई के कुछ रुपये भी। गाँव में मेला आरम्भ हो जाता है, नाच-गाना, तरह-तरह के उत्सव। देवता की पूजा भी।

Newell ने गद्दियों के बारे में लिखा : "an extremely sensitive and religious people whose simplicity conceals an extremely deep national character."

किन्तु महाकाल का चक्र घूमता है। आधुनिक सभ्य जगत् की

जीवन-धारा का दुर्निवार प्रवाह हिमालय के इन दुर्गम अँचलों में भी आ पहुँचता है। वह गद्दियों की जीवन-प्रणाली में भी परिवर्तन ले आता है। आजकल भरमौर में बहुत से सरकारी दफ्तर हैं। आधुनिक दृष्टिकोण से अनेक प्रकार की उन्नति के प्रयत्न हो रहे हैं। मोटरों के चलने के लिए राजपथ का निर्माण हुआ है। इसी से गद्दियों में से भी कितने ही लोगों को इन कामों में नौकरी मिली है। वे जीविका उपार्जन कर रहे हैं। शीतकाल में पहाड़ से नीचे उतरने की प्रेरणा होने पर भी, शायद अब उन्हें उसका प्रयोजन नहीं जान पड़ता। यायावरों का रोमांचक जीवन क्रमशः स्वप्न बन जाता है।

आज रास्ते में जिस गद्दी परिवार से भेंट हुई, शायद वे भी अपने किसी प्रयोजन से चल पड़े हैं।

हम लोग रास्ता पकड़े गद्दियों के उस अद्भुत देश—गदेरन भरमौर में आगे बढ़ रहे हैं। उनकी शिवभूमि को देखते जा रहे हैं। वह शैल-शिखर-मणिमहेश कैसा है ? कैसा है, चम्बा का वह छोटा कैलास, जिसकी गोद में बर्फ़ीली झील है। उस नदी की धारा के साथ सर्पिल मार्ग आगे बढ़ता है। कभी वह नदी के पास आ जाता है, कभी कुछ ऊपर चला जाता है। नदी पूर्व की ओर घूमती है, रास्ता भी मुड़ जाता है। अब दोनों ओर पहाड़ निकट नहीं हैं। विशाल उपत्यका है। इरावती भी जैसे हाँफना छोड़कर, हाथ-पैर फैलाकर, विश्राम करती है। रास्ते के पास ही झरना है। कई दिनों की वर्षा के परिणामस्वरूप जल प्रबल वेग से गिर रहा है। लकड़ी का पुल है। हवा पर तैरते जलकण आकर आँखों पर, मुँह पर पड़ते हैं।

चढ़ाई नहीं है। राह चलने का शारीरिक श्रम भी नहीं है। सवेरे धूप की गर्मी भी स्निग्ध जान पड़ती है। आनंदपूर्वक आगे बढ़ता जा रहा हूँ। चार-एक मील चलने के बाद, बायीं ओर, नदी पर बड़ा-सा पुल है। भरमौर का रास्ता पुल पार करके दूसरी ओर जाता है। दूसरा रास्ता नदी के किनारे-किनारे पूरब की ओर चला जाता है। सुनने में आया कि वह रास्ता सामने के पहाड़ को पार करके आजू रोड सराय के दर्रे से होता हुआ जोगिंद्रनगर तक जाता है।

पुल पार करके हम परले पार पहुँचे। आस-पास कहीं घर-बस्ती नहीं दीख पड़ी। दो-एक यात्रियों से भेंट हुई। इस जगह को 'खड़ामुख' कहते हैं।

हिमाद्रि बोला, "यही वह खड़ामुख है, जहाँ के बारे में कहा जाता है कि राजकुमार जयस्तंभ को अग्रचारी ऋषि के दर्शन हुए थे।"

मैंने हँसकर कहा, "चलते चलो, देखो शायद तुम्हारा स्वागत करने के लिए भी कोई प्रतीक्षा कर रहा हो।"

इस पार पहुँचने पर रास्ता फिर बायीं ओर घूम गया था, इरावती के दक्षिणी किनारे से होकर। कुछ दूर चलने पर देखा कि दाहिनी ओर से एक पहाड़ी नदी आकर इरावती में मिल गई है। हमारा रास्ता भी उसी नदी के किनारे से दाहिनी ओर घूम गया है। इरावती की मूल धारा से हम यहीं बिछड़ गये। हमारी नयी संगिनी इस नदी का नाम बुधल, भुडल या बुड़्ढल है। यह इरावती की उपनदी है। इसका उद्‌गम कुगती दर्रा (Kugti Pass) है। यह तीस मील लंबी उपत्यका से बहकर आती है, जिसे भरमौर या बुड़्ढल-घाटी कहते हैं। नदी की बायीं ओर के खड़े पहाड़ से होकर रास्ता है। पहाड़ काले पत्थरों का है। सिर के ऊपर भी साँप के फन की तरह काले पत्थर झूलते रहते हैं। ऐसा लगता है, जैसे हम सुरंग के भीतर से चल रहे हैं। सीलन भरे अंधकार का भाव फैला है। उस पार के नीचे की ओर पहाड़ का बड़ा शरीर है। बीच में नदी या तंग घाटी है। लेकिन उस ओर के पहाड़ का ऊपरी हिस्सा उतना खड़ा नहीं है, क्रमशः ऊँचा होता है। उधर कहीं-कहीं पेड़ों के समूह हैं। हरी घास से आच्छादित मुक्त जलवायु है। यह सब सवेरे की धूप में उज्ज्वल दीखता है। नदी के दोनों किनारों के दो भिन्न रूप हैं।

क्रमशः नदी के संकीर्ण धारापथ को पार करके गिरि-श्रेणी के उन्मुक्त आँगन में पहुँचते हैं। तब पता चलता है कि रास्ता धीरे-धीरे पहाड़ के ऊपर उठता आया है। बहुत नीचे नदी की उपत्यका है। चारों ओर विस्तीर्ण शैल-माला का घेरा है। आकाश की ओर सिर उठाकर खड़े दूरवर्ती पहाड़ों के शिखर पर तुषार का शुभ्र प्रलेप है।

बुड़्ढल नदी का संग पाने के बाद, लगभग तीन मील चलने पर, रास्ते के किनारे एक छोटी-सी दुकान है। आसपास भुट्टे के खेत हैं। रास्ते के दूसरी ओर भी खेतों की सीढ़ी-दर-सीढ़ी पहाड़ के ऊपर चली गयी है। उधर कुछ घर भी दीख पड़ते हैं। गाँव का नाम है लाहुला।

हिमाद्रि ने दुकानदार से बातें कीं। वह फौज में था। उसने कुछ दिन बारकपुर में भी बिताये थे। यह जानकर कि हम लोग कलकत्ता से आये हैं, उसने ऐसा भाव प्रकट किया, जैसे हम उसके न जाने कितने जाने-पहचाने इलाके से आये हैं। उसने कहा कि वह हावड़ा का पुल देख चुका है, काली माता के दर्शन कर चुका है और बड़ा बाज़ार भी गया है।

दुकान में एक और आदमी बैठा था। वह गाँव का स्कूल मास्टर था। हम लोग मणिमहेश जा रहे हैं, यह सुनकर दोनों ही ने चिंता प्रकट की। उन्होंने कहा, "वहाँ की यात्रा तो इस साल के लिए कई दिन पहले ही खत्म हो चुकी

है। अब इधर की ओर लोगों का आना-जाना बन्द है। बर्फ़ भी पड़ने लगी है। देखिये न, इन सारे पहाड़ों के शिखर बर्फ़ से सफेद हो गये हैं; मणिमहेश तो और ऊपर है। केवल कष्ट-सहन ही आपके पल्ले पड़ेगा। पहुँच नहीं सकेंगे। मैं समझ गया कि पिछले कई दिनों की वर्षा से पहाड़ के ऊपरी हिस्सों में स्वभावतः बर्फ़ गिरी है। अब धूप निकल आई है। आजकल भी साफ है। कम से कम कुछ दिनों तक तो आबो-हवा ठीक ही रहेगी। गिरी बर्फ़ भी बहुत कुछ गल जायेगी।

इसी पर मैंने कहा, "देखिये, आप तो समझ ही रहे हैं कि हम कलकत्ता से इतनी दूर आये हैं। जितनी दूर जाना संभव है, उसकी चेष्टा करके देखते हैं। मणिमहेश यदि दर्शन न देना चाहेंगे तो हम दर्शन न कर पायेंगे।"

मास्टर जी बोले, "हाँ, यह तो ठीक है। काली माता का मंदिर हम लोगों के इधर भी है, जानते हैं ?"

उसके बाद कमरे से बाहर आकर उन्होंने दिखलाया, बुड्ढल नदी के परले पार, पहाड़ से होकर एक रास्ता है। उन्होंने कहा कि यह रास्ता सीधा तुंदाह चला जाता है, काली देवी के मंदिर तक। बीस मील की दूरी पर काली-छो पास है। वहाँ से पहाड़ चढ़कर दूसरी ओर पंगी में उतरकर चंद्रभागा वैली में त्रिलोकनाथ मंदिर है।

उनकी बात सुनकर मैंने उत्सुक होकर देखा। त्रिलोकनाथ के दर्शन की इच्छा कई दिनों से थी। मैंने सोचा कि अब इस शरीर से वह आशा पूरी न हो सकेगी।

लेकिन कई साल बाद वह इच्छा भी पूरी हुई। चम्बा के इस मार्ग से जाकर नहीं। कुल्लू से रोहतांग दर्रा पार करके लाहुल के भीतर से। हिमाद्रि की दृष्टि दूसरी ओर थी। वह दुकान के निकटवर्ती खेतों में लगे ताज़े और पुष्ट भुट्टों की ओर ललचायी निगाह से देख रहा था।

मैं समझ गया। मैंने पूछा, "दो भुट्टे खरीदकर भून लिये जायें? दुकान के चूल्हों में आग भी दीख रही है।"

लेकिन दुकानदार देने को राजी नहीं हुआ। उसने गम्भीर होकर बताया कि अभी खेत से मक्का नहीं तोड़ा जा सकता, समय नहीं हुआ है।

हिमाद्रि ने चकित होकर कहा, "क्यों? खाने के लिए तो काफी बड़े हो गये हैं।" दुकानदार ने कहा, "मैं खाने के लायक की बात नहीं कहता। यहाँ का रिवाज़ है कि जब मक्का तैयार हो जाता है तो पहले देवता को चढ़ाया

जाता है, तब लोग उसे खाते हैं।"

हिमाद्रि ने कहा, "नियम तो अच्छा है। फिर अभी ही दो भुट्टों का भोग लगाकर हमें दे दो। दक्षिणा भी मिलेगी।"

उसने कहा, "ऐसा कैसे हो सकता है? गाँव के सब लोग मिलकर पूजा करेंगे। उत्सव होगा। वह अभी नहीं मिल सकता।" हिमाद्रि हिम्मत नहीं हारता। पूछता है, "सुना है, इधर के जंगलों में भालू बहुत हैं।"

दुकानदार ने कहा, "बहुत! वे खेतों का थोड़ा नुकसान करते हैं। मक्के के पकने पर तो पूछिए ही मत; सारी रात पहरा देना पड़ता है। आजकल भी पहरा दे रहा हूँ।"

सुनकर हिमाद्रि को सहारा मिला। उसने कहा, "ऐसी बात है। जान पड़ता है कि बीच-बीच में वे छिपकर खा भी जाते होंगे।"

दुकानदार ने बताया, "सो तो है। अभी दो ही दिन पहले खेत के इस किनारे के कई भुट्टे खा गये हैं।"

हिमाद्रि ने आश्वस्त होकर कहा, "तब आज भी यही समझना कि वे उसी तरह दो भुट्टे और खा गये हैं।"

मास्टर जी हँसे। उन्होंने दुकानदार से कहा, "जाओ, दो भुट्टे तोड़कर दे दो। आखिर गाँव के बच्चे भी तो तोड़ते-खाते हैं।"

अंत में दुकानदार भी हँसता हुआ चला गया। दो भुट्टे तोड़ लाया। उन्हें आग में अच्छी तरह से भुना गया। किसी भी तरह दाम उसने नहीं लिया। ताज़े, गरम भुट्टे खाते हम आगे बढ़े। थोड़ा-सा कुली को भी दिया। बड़ा स्वादिष्ट, बड़ा सरस भुट्टा था। भूख-प्यास दोनों मिट गयी। हिमालय की पद यात्रा के आनन्द का स्वाद रसना ने भी पाया। मैंने हिमाद्रि से कहा, "लो आखिर तुम्हारी भी सादर अभ्यर्थना हो ही गई। देश जय नहीं, भुट्टा विजय।"

चम्बा के पूरे इलाके का प्रधान खाद्य भुट्टा ही है। फसल भी काफी होती है। गाँव-गाँव के हर घर की छत पर भुट्टे सूखते रहते हैं। दूर से देखने पर ऐसा लगता है, मानो सोने की पत्तियों से छाजन की गयी है। भुट्टे को पीस कर आटा बनाया जाता है। सब जगह उसी की रोटी खाने का चलन है। इधर के लोग बारह महीने यही खाकर रहते हैं।

लाहुला से तीन-एक मील आगे बढ़ने पर चेल्ड-घर है। मास्टर जी ने हमें पहले ही सावधान कर दिया था कि चेल्ड-घर में एक बहुत बड़ा पहाड़ टूट गिरा है। रास्ता बन्द है। वहाँ पहुँचने से कुछ पहले ही, बायीं ओर, एक संकरा रास्ता दीख पड़ेगा। वह नीचे नदी की ओर उतर गया है। उसी रास्ते

से उतर कर। दो-तीन मील का चक्कर काट कर फिर बड़े रास्ते पर पहुँच जाएँगे।

पहाड़ के मोड़ से घूमकर हमने चेल्ड-घर के उस टूटे हुए प्रकांड अंश को देखा। ऐसा लगा, जैसे किसी ने झपट्टा मार कर पहाड का बड़ा सा हिस्सा गिरा दिया हो। चारों ओर के हरे पेड़-पौधों के बीच जैसे पहाड़ का क्षत-विक्षत शरीर पड़ा हो।

बायीं ओर का संकरा रास्ता भी आया। वह रास्ता लगभग पाँच-छह सौ फुट नीचे घाटी में उतर गया था। वहाँ गाँव के कुछ घर भी थे।

दूर से देखा कि मज़दूरों का झुँड रास्ते की मुरम्मत कर रहा है। मैंने सोचा, फिर इतनी दूर नीचे उतरने, चढ़ाई चढ़ने, तीन-एक मील का अधिक चक्कर काटने की जरूरत क्या है? क्यों न हम टूटे रास्ते से ही आगे बढ़ जाएँ? क्यों न ज़रूरत होने पर कुलियों की सहायता ले लेंगे।

विराट् ध्वंस था। दो-एक जगह खड़े पत्थर थे। उसी के पास झरने की जलधारा थी। पानी कीचड-सना और मटमैला था। मज़दूर स्वयं ही आगे बढ़ आये। उन्होंने हाथ पकड कर हमें संकटपूर्ण स्थानों से पार करा दिया।

निश्चिंत होकर हम फिर चलने लगे। रास्ते में भेड़-बकरियों का एक झुँड मिला। उनकी ऊन बहुत बड़ी-बड़ी थी। उनके सींग टेढ़े-मेढ़े थे। पास ही, एक पत्थर पर, कई गद्दी बैठे थे। उनकी कमर में वही रस्सी लिपटी हुई थी। हाथों में हुक्का था।

तीन मील और चलने के बाद, दूर से ही भरमौर दीखने लगा। प्रायः सात हज़ार फुट की ऊँचाई पर पहाड़ की अधित्यका, "फैली हुई समतल भूमि। उपजाऊ खेत। बड़े-बड़े घर-मकान। बीच-बीच में माथा उठाये वृक्षों की पंक्ति। दूर पर शहर के पीछे बर्फ़ के पहाड़। ऐसा लगता था जैसे पास ही हों। शहर के ऊपर, पहाड पर चीड़ के पेड़ थे।

हिमालय के भयावह दुर्गम आँचल में राजधानी बनाने के योग्य ही सुंदर परिवेश था।

शाम साढ़े चार बजे वहाँ पहुँचे।

शहर में घुसते ही एक झरना है। कई दिनों की वर्षा के बाद जल का स्रोत बड़े वेग से गिर रहा था। दूर से ही देखा, रंगीन वस्त्रधारी कोई व्यक्ति वहाँ घूम रहा था। पास जाकर देखा, झरने के पानी की तेज़ धारा से खेत का कुछ हिस्सा टूट गया है। तीन-चार आदमी टूटे हुए हिस्से की मुरम्मत के काम में लगे थे। पास ही एक संन्यासी खड़े थे। गैरिक वस्त्र पहने हुए

थे। शरीर से लम्बे और बलवान थे। रंग गोरा था। घूम-घूम कर लोगों को आदेश दे रहे थे कि कहाँ क्या करना है। कभी स्वयं ही कोई पत्थर हटा देते और दूसरी जगह एक पत्थर जमा देते थे। स्वामी जी की देख-रेख से सुख मिला। सामान्य रूप से आदेश देना नहीं, कर्तव्य की लेशमात्र अभिव्यक्ति नहीं, जैसे वह मूर्तिमान प्रेरणा थे। भरमौर, मणि महेश तीर्थ क्षेत्र का द्वारदेश है। मैंने सोचा मंदिर के सिंहद्वार पर ही साधु के दर्शन हुए। यह सौभाग्य का ही चिह्न है।

आगे बढ़कर हमने नगर में प्रवेश किया। रास्ते के दोनों ओर पंक्तिबद्ध मकान थे। मैंने वन-विभाग के दफ्तर का पता लगाया। यहाँ के रेंज अफसर का मकान पहाड़ की थोड़ी ऊँचाई पर था। हमें वहाँ ले जाया गया। एकमंज़िला लम्बा मकान। सामने फूलों का बगीचा। दूर बर्फ़ीले पहाड़ों की पटभूमि। नीचे नगर के घर-मकान। लंबे-लंबे देवदार वृक्षों की छाया में कई मंदिर।

बगीचे में कुर्सी डालकर अफसर महोदय शाम की ढलती धूप की सेंक ले रहे थे। हम लोगों को देखकर उठ खड़े हुए। उन्होंने हमारा स्वागत किया। उनका नाम था हेमराज सूद। उन्होंने बताया कि डलहौजी के दफ्तर से उन्हें सूचना मिल चुकी है। यात्रा की सारी व्यवस्था हो जायेगी, चिंता की बात नहीं। उन्होंने अनुरोध किया कि अभी हम सुस्थिर होकर विश्राम करें।

मैंने पूछा, फॉरेस्ट बंगला किधर है? वहाँ जाकर निश्चिंत होकर बैठते। वह जगह नगर से लगभग एक मील दूर, बाहर की ओर है। अगर हम लोगों को आपत्ति या असुविधा न हो तो हम उन्हीं के इस घर में ठहर सकते हैं। घर तो खाली ही पड़ा हुआ है। अभी वह अकेले ही हैं। यहाँ ठहरने में सुविधा भी बहुत है। भाग-दौड़ का हंगामा नहीं रहेगा, यहीं बैठे सलाह-मशविरा करके यात्रा का सारा प्रबन्ध हो जायेगा।

मैंने कहा, "लेकिन मैं आपको किसी तरह की असुविधा में नहीं डालना चाहता। कल सवेरे ही हमारी यात्रा का प्रबंध करा दीजिये। सभी कहते हैं कि देर हो गयी है, उधर बर्फ़ पड़ने लगी है, जाना नहीं हो सकेगा।"

उन्होंने हँसकर आश्वासन दिया, "पहाड़ी लोग आमतौर पर इसी तरह डर जाते हैं। आप कोई चिंता न करें। आराम के साथ घूम आयेंगे।" उन्होंने आकाश के उत्तर-पूर्व की ओर देखा। आसमान से लगे बर्फ के पहाड़। शाम की ढलती धूप में वे झिलमिला रहे थे। सूद ने कहा, "यही तो है मणिमहेश

शिखर!" मैंने आँखें उठा कर देखा। मन पुलकित हो आया। वह जैसे पास बुला रहे हों। सूद ने आश्वासन दिया, "पिछले कई दिनों में थोड़ी बर्फ़ गिरी है, लेकिन वह कुछ अधिक नहीं है। आदमी का इन्तज़ाम अभी ही हो जायेगा। लेकिन ठहरने का इन्तज़ाम यहीं रहे। मेरी असुविधा का तो प्रश्न ही नहीं है। जंगल में अकेला पड़ा रहता हूँ। आपको निकट पाकर मुझे प्रसन्नता ही होगी। कितनी दूर से आ रहे हैं आप लोग, कहाँ उस बंगले में जाकर ठहरेंगे? मैं किसी भी तरह आपको छोड़नेवाला नहीं हूँ।"

उन्होंने अपने आदमियों को बुलाया। चाय-जलपान आया। वहां बैठे-बैठे, उसी समय, कल सवेरे की हमारी यात्रा का प्रबन्ध भी हो गया। ज़रूरी साज-सामान लेकर एक भोटिया जायेगा। बाकी चीज़ें यहीं रहेंगी। तीन दिनों के लिए जो निहायत ज़रूरी चीज़ें होंगी, सिर्फ वही साथ जायेंगी।

सूद ने कहा, "मैंने अपने फॉरेस्ट गार्डों से भी कह दिया है कि उन में से हर एक, अपने-अपने इलाके में, आप लोगों के साथ रहे। कल यहाँ का गार्ड आपके साथ जायेगा।"

अब स्थिर होकर निश्चिंततापूर्वक परिचय आरम्भ हुआ। उन्होंने पूछा, "मैं कहाँ से आ रहा हूँ ?"

"कलकत्ता से।"

"कलकत्ता ? यहाँ के डॉक्टर साहब भी बंगाली हैं।"

पहले की जानकारी से मुझे पता था कि पहाड़ी लोग अक्सर उत्तर भारतीयों को बंगाली समझने की भूल करते हैं। इसी से मैंने पूछा, "उनका सरनेम तो बताइये।"

"चटर्जी।"

सन्देह जाता रहा। सूद ने सिर बढ़ाकर थोड़ा नीचे की ओर देखा। वह उल्लसित होकर बोले, "यहीं तो वह आ रहे हैं। उनका घर पास ही है।"

उन्होंने आवाज़ लगायी, "डॉक्टर साहब, डॉक्टर साहब!" फिर इशारे से डॉक्टर को ऊपर आने को कहा।

काले सफेद केश। गोरा झकझक रंग। दुहरा चेहरा। कोट-पैंट पहने हुए। धीमी गति से वे ऊपर आ गये। उनका चेहरा गम्भीर था। बागीचे के फाटक से अन्दर आकर, कुछ दूर से ही, उन्होंने सूद से हिन्दी में पूछा, "बुला क्यों रहे हैं ?"

मैं कुर्सी छोड़कर आगे बढ़ गया। हाथ उठाकर मैंने नमस्कार किया। कहा, "आइये, कुछ बातें हों, मैंने तो सोचा भी नहीं था कि इतनी दूर हिमालय

में किसी बंगाली से भेंट होगी।"

उन्होंने अवाक् होकर देखा। कहा, "अरे आप बंगाली हैं ? घर पर बैठा मैं आप लोगों को आता देख तो रहा था। मैंने समझा था कि आप पंजाबी हैं। सूद से ही सुना था कि मणिमहेश जाने के लिए कोई पार्टी आ रही है। बंगाल से आ रही है, यह तो मैंने सोचा भी नहीं था। इस उम्र में इस दुर्गम यात्रा पर निकले हैं ? आपके साहस की प्रशंसा करनी पड़ेगी। साथ में क्या एक ही आदमी है ? मैं तो कई बरसों से यहाँ हूँ। मैंने किसी बंगाली को यहाँ इस तरह आते नहीं देखा।"

उनके चेहरे पर हँसी की रेखा दीख पड़ी। खुद ही कुर्सी खींचकर वह बैठ गये। सूद से उन्होंने गरम चाय की फरमाइश की। उसके बाद बोले, "अच्छा बताइये तो, आप कहाँ से आ रहे हैं, अभी तक तो मैंने आपका नाम भी नहीं जाना।"

मैंने पूछा, आप क़हाँ के हैं, पहले यह बतलाइये। मैंने सूद की ओर देखकर कहा, "सूद साहब, अगर हम लोग बंगला में बातें करें तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं है ?"

सूद ने कहा, "नहीं, नहीं। मुझे बुरा क्यों लगेगा ? आपके देश के आदमी हैं, यही समझकर तो मैंने इन्हें बुलाया था।"

डॉक्टर ने बताया, "घर और कहाँ हो सकता है ? कलकत्ता के भवानीपुर में है। आप कहाँ के हैं ?"

प्रश्न सुनकर मैं दुविधा में पड़ गया। राह-बाट में सहज ही मैं किसी को अपना परिचय नहीं देना चाहता, उसकी ज़रूरत भी नहीं समझता। फिर भी नाम बताना ही पड़ा। डॉक्टर ने पहचान लिया। प्रसन्न होकर बोले, "देखिये, कैसा अद्भुत संयोग है। हम दोनों ही कितने पास-पड़ौस के हैं। लेकिन कलकत्ता में कभी परिचय नहीं हुआ। हुआ कहाँ ? हिमालय के इस निर्जन, सुदूर, दुर्गम अंचल में।"

सूद अचरज से देखते हैं। कहते हैं, "डॉक्टर साहब के चेहरे पर पहली बार आज हँसी देख रहा हूँ। पहले की आप लोगों की जान-पहचान थी क्या ?"

फिर उन्होंने हँसकर कहा, "देखिये तो, डॉक्टर साहब के बारे में आप कुछ जानकारी हासिल कर पाते हैं या नहीं। हम दोनों यहाँ आस-पास रहते हैं। रोज़ ही भेंट-मुलाकात होती है। इतनी जान-पहचान है, फिर भी मुझे कभी अपने घर नहीं बुलाते, जाना चाहने पर भी जाने नहीं देते। स्वयं ही मेरे पास

यहाँ चले आते हैं। अकेले रहते हैं, पता नहीं क्या करते हैं। ये कभी कलकत्ता नहीं जाते। किसी को इनके पास आते भी नहीं देखता। और यहाँ रहते इन्हें कई बरस हो गये हैं। यहाँ भी ये लोगों से मिलते-जुलते नहीं, सिर्फ मेरे साथ ही थोड़ा-बहुत अपनापन है, लेकिन फिर भी अपने बारे में मुझे कुछ जानने नहीं देते।"

यद्यपि डॉक्टर गंभीर प्रकृति के थे। फिर भी मेरे साथ उनकी बातें जमकर हुईं। हँसी-मज़ाक भी हुआ। यह देखकर सूद को और आश्चर्य हुआ। डॉक्टर ने कहा, "देखिये न, अपने बारे में मैं किसको क्या बताऊँ? बताने लायक है भी क्या ? नौकरी करने के लिए आया हूं यहाँ इतनी दूर। दिन किसी तरह बीतते जा रहे हैं। एकाँत स्थान है, कोई हुज्जत-हंगामा नहीं है, अपना काम किये जा रहा हूँ। हर महीने घर पर नियमित रूप से रुपये भी भेज देता हूँ। बस। यहाँ इतनी दूर किसी का आना सहज है क्या ? आयें भी तो यहाँ रहना उनके लिए संभव न होगा। बच्चों के लिखने-पढ़ने का सवाल है। पिछले साल एक बार दिल्ली जाना पड़ा था, उसी समय वे लोग भी वहाँ आये, भेंट-मुलाकात भी हुई। छोड़िए ये बातें! यह बतलाइये कि मणिमहेश की यात्रा का क्या प्रबन्ध हो रहा है ? सूद साहब, आप निश्चय ही इन लोगों के साथ कोई होशियार आदमी भेज रहे हैं।"

सूद ने सारी व्यवस्था की बात बतलाई। डॉक्टर और सूद से मणिमहेश के बारे में तरह-तरह की बातें सुनने को मिलीं।

सूद साहब ने कहा, "आइये, शहर में एक नागाबाबा के पास चलें। आप लोग भी दर्शन कर आइयेगा। बहुत बड़े योगी हैं।"

मैंने पूछा, "शहर में घुसने के पहले ही एक स्वामी जी दीख पड़े थे। लेकिन वे नागा नहीं थे, गेरुआ वस्त्र पहने हुए थे।"

सब सुनकर सूद ने कहा, "तब उन्हीं को देखा था आपने। वही तो यहाँ के केवल भरमौर ही क्यों, सारे चम्बा के प्राण हैं। पिछले कई दिनों की वर्षा में किसी के खेत की ज़मीन टूट गिरी होगी, निश्चय ही इसकी खबर पाकर वह लोगों के साथ वहाँ सहायता के लिए पहुंच गये होंगे।"

उसके बाद मैंनें स्वामी जी की कथा सुनी।

योगीश्री श्रीविजय कृष्ण गिरी महाराज! यहाँ के लोग कहते हैं नागा बाबा। उनकी उम्र कितनी है, इसके बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता। उन्होंने हिमालय के बर्फ़ीले इलाके में बहुत दिनों तक कठोर तपस्या की थी।

उस समय निरावरण रहते थे। उसके बाद उन्होंने यहाँ भरमौर में आसन जमाया। लगभग साठ वर्षों से यहीं हैं। लोगों के बीच रहते हैं तो सामान्य वस्त्रखंड या कौपीन का व्यवहार करते हैं। पूरे साल बर्फ़ीले पानी में स्नान करते हैं–जाड़ों में जब चारों तरफ बर्फ़ छा जाती है तब भी। असीम शक्तिशाली, तेजस्वी पुरुष हैं। सारे चम्बा में ऐसा एक भी आदमी नहीं है, जिसने उनका नाम न सुना हो।

सभी लोग देवता की तरह उनके प्रति भक्ति-श्रद्धा रखते हैं। छोटे -बड़े सब कामों में लोग उनकी सलाह लेते हैं; उनका आशीर्वाद पाना चाहते हैं। अपनी योग-साधना में दिन-रात लगे रहने के बाद भी लोगों के सुख-दुःख में ज़रूरत पड़ने पर, अपने आप आगे बढ़कर सहायता करते हैं। लोग कहते हैं कि उनकी आज्ञा के बिना चम्बा राज्य में घास की मामूली फुनगी तक नहीं हिलती। सूद ने कहा, "आज इस मैदान में मामूली मरम्मत का काम आपने देखा क्या? चम्बा और भरमौर की जो भी उन्नति हुई है, सब नागा बाबा के कारण हुई है। जीर्णोद्धार के बिना भरमौर के प्राचीन मंदिर नष्ट होते जा रहे थे। बाबा ने जीर्णोद्धार करवाया, उनकी शोभा फिर निखर आयी है। मणिमहेश के यात्री यहाँ आकर आश्रय नहीं पाते थे, उनके ठहरने की कोई जगह नहीं थी। धर्मशाला बनी। पहाड़ के दुर्गम स्थानों में आने-जानेवालों को बहुत कष्ट होता था, लोगों को प्राण-भय था। यात्रा का मार्ग बना। बच्चों के पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध नहीं था, स्कूल खुला। पानी की कमी दूर करने के लिए पहाड़ पर, झरने के मुँह पर, नल बैठाया गया। पानी ले आने की व्यवस्था हुई। रोगी की चिकित्सा नहीं हो पाती थी। उन्होंने अस्पताल बनवाया। मणिमहेश के यात्रियों को अनेक प्रकार की असुविधाएँ होती हैं, कोई विधि-व्यवस्था नहीं है, फिर भी पुण्यकामी यात्रियों की भीड़ होती है। बहुत से साधु-संन्यासी भी आते हैं। हर साल ये ही यात्रा का सारा आयोजन कर देते हैं।

इन सब कामों के लिए बहुत धन की आवश्यकता होती है। वह धन कहाँ से आता है। किस तरह इतने बड़े-बड़े काम ठीक ढंग से हो जाते हैं, इसे सब लोग अवाक् होकर देखते हैं। चम्बा के निवासी इन्हें सिर्फ नाम से ही नागा बाबा नहीं कहते, मन-प्राण से इन्हें अपना पिता समझते हैं। इनकी भक्ति करते हैं। सुख-दुःख में, सम्पत्ति-विपत्ति में सदा उनके चरणों का आश्रय ग्रहण करते हैं। ये भी सब को हृदय से लगाकर रखते हैं। इतना कठिन और कठोर संन्यास व्रत है, फिर भी इनमें कितना गहरा स्नेह-प्रेम है। चलिये, देख आइये चलकर।"

मैंने कथामृत-पान किया। मन आनन्द से परिपूर्ण हो गया। मन में सोचा, मुझे इनके बारे में कुछ भी तो मालूम नहीं था। फिर भी, आज प्रथम दर्शन में, दूर से ही, उनके मंगलमय आलोक के स्निग्ध स्पर्श का अनुभव अनजाने ही मुझे कैसे हुआ था।

सूद कहते जा रहे थे – सारे चम्बा में नागा बाबा का प्रबल प्रभाव है। इस सम्बंध में बहुत सारी घटनाएँ बतला सकता हूँ। एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ। साधारण लोगों की बात छोड़ दीजिये, चम्बा के स्वाधीन राजा, यहाँ तक कि बड़े-बड़े अफसर भी यहाँ आकर इनके दर्शन कर जाया करते थे। चरणों की धूल लेते थे। अपने बड़े-बड़े कामों में इनका परामर्श चाहते थे। एक बार एक बड़े व्यवसायी को भरमौर में शराब की दुकान खोलने की अनुमति मिली। दुकान के लिए जगह भी तय हो गयी। यहाँ मन्दिरों के पास ही। वहीं तो लोगों की बस्ती है। सुबह-शाम मिलना-जुलना होता है। दुकान खुलने की बात से पहाड़ियों में भी बड़ा उत्साह था। फिर भी स्थानीय कुछ भले लोगों को इस पर ऐतराज़ था। उधर सरकार के सदर दफ्तर में व्यवसायी का बड़ा प्रभाव था। अर्थ-बल तो था ही। इसी से कोई ऐतराज़ टिका नहीं। उन्होंने छाती फुलाकर दुकान खोलने का आयोजन किया। दंगा-हंगामा का रंग-ढंग भी दीख पड़ा। आखिर जाँच-पड़ताल के लिए कमीश्नर साहब यहाँ खुद ही आ पहुँचे। आते ही उन्होंने पूछा, "नागा बाबा कहाँ हैं ?" सीधे उनके पास गये। उन्होंने सारी घटना कह सुनाई। सुनकर नागा बाबा ने राय दी कि अगर दुकान खुलनी ही हो तो मंदिर के पास तो नहीं, बाज़ार में भी नहीं–शहर से एकदम बाहर।

साहब ने और किसी से कुछ नहीं पूछा। तत्काल वैसा ही आदेश देकर वह चले गये। उन्होंने कहा, "नागा बाबा का हुक्म है। उसके बाद तो किसी की कोई बात चल ही नहीं सकती।" और थे वह खास कमीश्नर साहब। अब शराब की दुकान पाँच मील दूर है।

डॉक्टर गंभीर होकर चुपचाप बैठे थे। अब वह बोले, "यह आश्चर्य का देश है साहब! हम लोग विचार-बुद्धि से इन सारी बातों की तह तक नहीं पहुँच सकते। नागा बाबा तो असीम शक्तिशाली पुरुष हैं ही, उन्हें इस देश का राजा भी कहा जा सकता है। लेकिन हम जिन साधारण घटनाओं को घटित होते देखते हैं, उनका कार्य-कारण भी समझ नहीं पाते। इसी से अब मैं इन बातों पर विश्वास भी करने लगा हूँ। आप लोग मणिमहेश की यात्रा पर बेमौके आये हैं। अभी कई दिन पहले, राधाष्टमी तिथि को, यात्रा समाप्त

हो जाती है। उस समय आने पर भी कितना कुछ देखने को मिलता।"

मैंने बताया, "भीड़-भड़क्का मुझे पसंद नहीं है, इसी से मैं जहाँ भी जाता हूँ, यात्रा का समय बचाकर जाने की चेष्टा करता हूँ।"

डॉक्टर ने मेरी बात स्वीकार की, "स्थिर होकर एकांत में दर्शन करना हो तो ऐसा ही करना पड़ता है। लेकिन यात्रा के समय किस तरह की अद्भुत घटनाएँ घटती हैं, उनमें से अपनी आँखों-देखी एक घटना मैं आपको सुनाता हूँ। सभी यात्री यहाँ भरमौर में एकत्रित होते हैं। जैसा कि इस तरह की यात्राओं में होता है। कई दिनों तक नाच-गाना, उत्सव, शोर-गुल होता रहता है। यह सब छोड़िए। सारा आयोजन इन नागा बाबा के इर्द-गिर्द ही होता है। कहाँ क्या करना होगा, क्या न करना होगा, इस तरह की छोटी से छोटी बात का आदेश भी वही देते हैं।

यात्रा करने के कई दिन पहले से अनुष्ठान आदि आरम्भ होते हैं। पूजा वगैरह होती है। उस समय किसी एक व्यक्ति पर देवता का आवेश आता है। उसे कहते हैं 'चेला नचाना'। सहज-साधारण मनुष्य में जब देवता का आविर्भाव होता है तो वह एक अद्भुत दृश्य होता है। एक-एक करके सभी यात्रियों को उस देवता से आदेश लेना होता है कि यात्रा में कौन जायेगा, कौन नहीं जायेगा। उसके 'ना' कह देने पर जाने का कोई उपाय नहीं है।

जब मैं पहले-पहल यहाँ आया तो मैंने इन नियम-कायदों और प्रथाओं की बात सुनी। मैं यहाँ सरकारी डॉक्टर के रूप में रह रहा हूँ। मुझे यात्रा में भी ड्यूटी पर जाना होगा। मेरे लिए जाने या न जाने की अनुमति का प्रश्न ही नहीं था। फिर भी प्रथा के अनुसार, मुझे यात्रियों के साथ खड़ा होना पड़ा। मुझे देखकर देवता बोले, 'उसका जाना नहीं होगा।' सुनकर मैं मन ही मन हँसा। मेरा जाना भला कौन रोकेगा ? मैंने जाने की सारी व्यवस्था कर ली। यात्रा से एक दिन पहले की बात है। यहीं रास्ते से जा रहा था। अचानक पैर में मोच आ जाने से ऐसा गिरा कि फिर उठ नहीं सका। पैर की हड्डी टूट गयी थी। उस समय भला जाने की बात किसे सूझती। प्लास्टर लगाकर कई महीनों तक निश्चल पड़ा रहा। विश्वास न करने का उपाय क्या है ? बताइये, अगले साल अनुमति मिली—यात्रा, दर्शन सबकुछ भली भाँति हो गया।"

सूद बोले, "क्यों? पिछली बार की घटना भी सुनाइये।"

डॉक्टर ने कहा, "वह भी एक घटना थी। मेरी आँखों के सामने न हुई होती तो मैं उस पर विश्वास ही न करता। नियम के अनुसार 'चेला' नचाया

जा रहा था। एक आदमी ने देवता से जानना चाहा, कि इस बार की यात्रा कैसी रहेगी? देवता ने उत्तर दिया, 'कुल मिलाकर अच्छी ही रहेगी, लेकिन चार व्यक्तियों की मृत्यु भी होगी, तीन आदमियों की नहीं, पाँच की भी नहीं, ठीक चार आदमियों की।"

मैंने कहा, "अवश्य आश्चर्य की बात है।"

सूद ने कहा, 'मणिमहेश' की कथा जानते हैं न? मैंने नागा बावा से सुनी थी। आप लोग भी निश्चय ही उनसे सुनेंगे। काश्मीर में मुसलमानों का घोर अत्याचार देखकर अमरनाथ यहाँ चले आये। उन्होंने नया नाम धारण किया मणिमहेश। वह हिमालय के तुषार राज्य में टिक गये। लोगों को इसका पता नहीं चला। एक बार एक गद्दी भेड़ चराता हुआ इधर के पहाड़ पर जा पहुँचा। शिव की अपनी पसंद का नया कैलास। अपूर्व थी उसकी प्राकृतिक शोभा। कैलास की दिव्य छटा देखकर गद्दी तन्मय हो गया। मंत्रमुग्ध की तरह देखता रहा। अकस्मात् उसे आकाशवाणी सुनाई पड़ी। जैसे कोई पूछ रहा हो, इधर कहाँ जा रहा है? तुझे क्या चाहिए? गद्दी चौंक उठा। चारों ओर देखने लगा। कहीं कोई आदमी नहीं है, फिर बात कौन कर रहा है? सहसा जटाजूट धारी एक विराट पुरुष सामने आ खड़े हुए। उन्होंने गद्दी से फिर पूछा कि वह क्या चाहता है? गद्दी हक्का-बक्का रह गया। उसके मुँह से निकल पड़ा, 'एक हज़ार भेड़ें।' उन महापुरुष ने तत्काल कहा, 'तथास्तु! वही मिलेगा लेकिन देखो, कभी किसी से इसके बारे में कुछ कहना मत। कहोगे तो फिर कभी मुझे नहीं देख पाओगे।'

आनन्द से अभिभूत गद्दी लौट आया। आकर देखा, उसके पास हज़ार भेड़ें हो गई हैं। लेकिन यह क्या ? उसकी मनोकामना तो पूरी हुई, लेकिन भेड़ों के प्रति उसके मन में कोई आकर्षण नहीं रहा। वह न उनकी ओर देखता, न उनकी सार-संभाल करता। सदा अनमना रहने लगा। इधर- उधर घूमता-फिरता। एक दिन एक महात्मा मणिमहेश के दर्शन के लिए आए। ढूँढ कर भी वह रास्ता नहीं पा सके। गद्दी बताने को तैयार नहीं हो रहा था। बहुत कहने-सुनने पर वह उन्हें साथ लेकर रास्ता बताने चला। उसकी भेड़ों का झुंड और एक कुत्ता भी उसके साथ चला। पहाड़ की आधी ऊँचाई चढ़ चुकने पर अकस्मात् देववाणी हुई, 'मेरे मना करने पर भी इन्हें रास्ता दिखाता आ रहा है। वहीं ठहर जा।' गद्दी से न आगे बढ़ा गया न पीछे लौटा गया। डर के मारे वह मणिमहेश के निमित्त एक-एक करके अपनी भेड़ों की बलि देने लगा। जब दो भेड़ें बाकी रह गईं तो उसने फिर वाणी सुनी, 'तुम सब जैसे हो, वैसे ही

पत्थर बन कर यहाँ पड़े रहो!' तभी से वह गद्दी, दो भेड़ें, कुत्ता और महात्मा पत्थर बन कर वहीं पड़े हुए हैं। एक साँप और दो कौवे भी अनजाने उनके साथ आए थे। वे भी पत्थर बन गए। उसके बाद से गद्दी लोग मेले के समय झील के किनारे मणिमहेश के निमित्त हज़ार-हज़ार भेड़ों की बलि देने लगे। आपके साथ जो फॉरेस्ट गार्ड रहेगा, वह उन पत्थर की मूर्तियों को दिखलाएगा। झील के किनारे भेड़ों के बिखरे हुए सींग तो आप देखेंगे ही। लेकिन अब देरी नहीं, नीचे चलिए। नागा बाबा के दर्शन कीजिए, हम लोग रोज़ तीसरे पहर उनके पास बैठते हैं। बहुत अच्छा समय बीतता है। मन शांति से भर जाता है। आप लोग जब कल सवेरे ही यात्रा कर रहे हैं तो थोड़ी जगह भी घूम कर देख लीजिए।"

डॉक्टर कुर्सी से उठ गये। वह अपने काम से चले गये। उन्होंने कहा, "अभी फिर भेंट होगी।"

सूद ने कहा, "डॉक्टर साहब, आज रात को हम सब लोग साथ ही भोजन करेंगे। मैं आपका कोई बहाना नहीं सुनूँगा। आपको आना ही होगा।"

डॉक्टर ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "देखा जायेगा।"

बाद में, रात के समय वह आये तो, लेकिन उन्होंने भोजन नहीं किया।

सूद के बंगले से पहाड़ के लगभग दो सौ फुट नीचे भरमौर गाँव का केन्द्र है। ब्रह्माणी के जंगल में सावधानी के साथ छिपाकर रखा हुआ जैसे कोई बहुमूल्य रत्न हो।

पहाड़ की ढलान पर, विभिन्न स्तरों पर, घर-मकान हैं। पत्थर और लकड़ी से बने मकान। स्लेटी पत्थर से ढकी छतें। नीचे उतर कर एक अन्य रास्ता है। 7007 फुट की ऊँचाई पर पहाड़ की गोद में फैली समतल भूमि है। स्निग्ध-शांत परिवेश। विशाल वृद्ध देवदारों की निविड़ घन छाया। उसी के प्रकाशांधकार में जहाँ-तहाँ बिखरे मंदिर। ये मंदिर स्थापत्य शिल्पकला के उज्ज्वल उदाहरण हैं। ऐसा लगता है, जैसे तपोवन की वृक्षच्छाया में दीर्घाकृति और प्रशांत मूर्ति योगीगण ध्यान में मग्न हों। उन्नत मस्तक, स्थिर, निश्चल, चिर महामौनी। रिहाइशी मकान भी हैं।

गाँव के इस केन्द्र का नाम था चौरासी। इस नामकरण के सम्बंध में जनश्रुति भी है। इसी इलाके में ब्रह्माणी देवी की वाटिका थी। पहाड़ की काफी ऊँचाई पर, जहाँ अब उनका मंदिर है। वह रहती थी, ब्रह्माणी नाले के

उद्गम के निकट। देवी का एक पुत्र था। उसके पालित चकोर को गाँव के एक किसान ने मार डाला। शोकातुर बालक की मृत्यु हो गई। उसी की चिंता में माता ब्रह्माणी ने भी प्राण-त्याग कर दिया। उसके बाद से उस मृत जननी और चकोर की प्रेतात्मा गाँववालों को सताने लगी। गाँव के लोग भयभीत हो गये। 'देवी' मानकर उनकी पूजा करने लगे। उन्होंने यह मंदिर भी बनवाया।

कुछ समय बाद, 84 सिद्ध पुरुषों के साथ महादेव मणिमहेश की यात्रा के लिए आये। वाटिका के निकट उन्होंने आश्रय ग्रहण किया। धूनी जलाकर विश्राम करने लगे। अपने इलाके में यह अनाधिकार प्रवेश देखकर ब्रह्माणी देवी कुपित हुईं। विराट् रूप धारण करके वह उन लोगों के सम्मुख प्रकट हुईं। उन्होंने शिव को आदेश दिया कि वह तत्काल अपना बोरिया-बसना समेटकर वहाँ से चलते बनें। भोलानाथ ने विनयपूर्वक रात वहीं बिता लेने की अनुमति चाही। स्वीकृति देकर देवी अपने मन्दिर में चली गयीं। सवेरा होने पर देखा कि वे 84 सिद्ध पुरुष लिंगमूर्ति धारण करके वहीं अधिष्ठित हो गये हैं। तभी से इस क्षेत्र का नाम हो गया चौरासी। अब भी वहाँ छोटे-बड़े 84 मन्दिर देखे जाते हैं।

लेकिन शिव ने ब्रह्माणी देवी को वर दिया कि मणिमहेश के सभी तीर्थ यात्री पहले ब्रह्माणी की धारा में स्नान करेंगे। ब्रह्माणी देवी की पूजा करेंगे। नहीं तो उन्हें तीर्थ फल नहीं मिलेगा।

इस अँचल की अधिष्ठात्री देवी उन ब्रह्माणी के नाम से ही ब्रह्मपुर और फिर भरमौर नाम की उत्पत्ति हुई।

पहाड़ पर ब्रह्माणी नाले की धारा में नल बैठाकर भरमौर के लिए जल का प्रबन्ध होता है। पूरे साल जल-प्रवाह बहता रहता है। सुनने में आया कि इन दिनों उस स्रोत से बिजली उत्पादन का आयोजन हो रहा है।

हिमाद्रि ने सूद से पूछा, "आपने देवी से अनुमति ले ली है न?"

चौरासी के चबूतरे पर आ खड़ा होता हूँ। घूम-फिरकर मन्दिरों को देखता हूँ। यह तो हिमालय के निभृत-दुर्गम अरण्य-अँचल का रोमांचित आवेदन मात्र नहीं है। यह तो मानो भारत की प्राचीन संस्कृति के ग्रंथागार के आले से उतारकर रखी गयी एक चित्र-विचित्र बहुमूल्य पुस्तक है। प्रस्तर-फलक पर लिखित शिलालिपि, निपुण शिल्पी के हाथों से गढ़े प्रस्तर और दारुमय मन्दिर। बड़ा सूक्ष्म कार्य। चम्बा के प्राचीन इतिहास के उद्धार में इन कृतियों से सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त 'चम्बा वंशावली' में और कुल्लू के इतिहास में कुरु या जयस्तंभ के द्वारा स्थापित राजवंश के अनेक

राजाओं का उल्लेख मिलता है। इस राजवंश की लम्बी धारा है। दसवीं शती में चम्बा में नयी राजधानी की स्थापना से पहले, चम्बा के राजा लोग कम-से-कम तीन-चार सौ वर्षों से इसी भरमौर से राज्य शासन करते रहे थे। इस राजवंश का इतिहास प्रायः डेढ़ सौ वर्षों का है। पता नहीं संसार के और किसी इतिहास में एक ही राजवंश की इतनी लम्बी परम्परा थी या नहीं। यूरोप में आस्ट्रिया का हाप्सबर्ग (Hapsburge) राजवंश 600 वर्षों तक बना रहा था।

ताम्र और शिलालिपि पर अंकित वंशावली, राजप्रशस्ति-वचन और जनश्रुति सबको मिलाकर भरमौर की जो प्राचीन कथा तैयार होती है, आज इस तपोवन के सभा-मंडल में खड़े ये मंदिर मानो उसी की आवृत्ति कर रहे हैं।

प्राचीन राजाओं में से आदित्य वर्मन या आदि वर्मन ने 620 ईसवी में राज्य-भार पाया था। किंतु इस वंश के जिस पहले राजा के नाम और गुण ने विपुल ख्याति प्राप्त की, वह 680 ईसवी में आये। उनका नाम मेरु वर्मन था। युद्धों में विजय प्राप्त करके अपनी राज्य-सीमा को बहुत दूर तक फैलाने पर भी वह भरमौर के कितने ही अपूर्व मंदिरों के रूप में अपनी स्थायी कीर्ति छोड़ गये। बहुत समय बीत जाने पर आज भी, वे मंदिर स्तब्ध खड़े हैं। मणिमहेश अथवा हरिहर, लक्षणा देवी, गणेश और नृसिंह देव–ये मंदिर उन्हीं के शासन-काल के हैं। मणिमहेश मंदिर के सामने वृष की सजीव परिमाण वाली पीतल की प्रकांड मूर्ति है। उस पर भी लिपि उत्कीर्ण है। सूर्यमुख मंदिर को भी उन्हीं के समय का कहा जाता है। ऐसी प्रथा थी कि चम्बा का कोई राजा जब भरमौर आता तो पहले इस सूर्यमुखी मंदिर में पूजा करने के बाद ही राजभवन में जाता था। लक्षणा देवी के मंदिर को छोड़कर अन्य मंदिर तथा कुछ मूर्तियाँ भी विदेशी आक्रमणकारी 'किरा' दलों के अत्याचार से अंशतः क्षतिग्रस्त हो गयी हैं। शिलालिपि में इन मंदिरों के निर्माता शिल्पीगुरु के नाम का भी उल्लेख है–गूगा। उसका एकमात्र परिचय देवालयों का सौंदर्य ही है, और कुछ परिचय प्राप्त नहीं है।

भगवती लक्षणादेवी के मंदिर के सामनेवाले भाग पर काष्ठकार्य अत्यंत मनोहर है। गणेश मंदिर में गजानन की अष्टधातु की मूर्ति है। इनके अतिरिक्त चारों ओर शिव मंदिर हैं। पक्के घाटवाला एक कुंड भी है। कहा जाता है कि एक बार शिव-पार्वती गणेश को साथ लेकर भ्रमण कर रहे थे। सहसा पार्वती को स्मरण आया कि उस दिन गया के तीर्थजल से स्नान करने की पुण्य तिथि है। उन्होंने गया जाने की इच्छा प्रकट की। लेकिन अभी ही हिमालय को छोड़कर गया की यात्रा! शिव सहमत नहीं हुए। पार्वती उदास

हो गयीं। मातृभक्त गणेश ने तत्काल भूमि पर बाण मारा। सात धाराओं में जल फूट निकला। भारत के समस्त पवित्र नद-नदियों के जल से यह कुंड बना। इसका नाम भी पड़ा 'अर्द्धगया'।

इन सभी मंदिरों का विस्तृत वर्णन Hermann Goatz की पुस्तक Early Wooden Temples of Chamba में दिया गया है।

सन् 760 ईसवी में अजिय वर्मन राजा बने। कुछ लोगों का विश्वास है कि इन्हीं के राज्यकाल में दिल्ली के इलाके से जो ब्राह्मण और राजपूत आये, वे ही गद्दियों के पूर्वपुरुष थे।

सन् 820 ईसवी में मूषण वर्मन राजा हुए। इनके जीवनेतिहास की घटनाएँ विचित्रतापूर्ण हैं। आठवीं शती के अन्त में इनके पिता लक्ष्मी वर्मन कुछ समय के लिए राजा हुए थे। किंतु विदेशी 'किरा' आक्रमणकारियों ने उनकी हत्या करके राज्य हथिया लिया। मूषण वर्मन उस समय मातृगर्भ में थे। रानी को पालकी में बैठाकर मंत्री और राजपुरोहित कांगड़ा की ओर भाग गये। मार्ग में प्रसव-पीड़ा से विकल होकर रानी ने एक गुफा में आश्रय लिया और वहाँ पुत्र संतान को जन्म दिया। शत्रुओं के द्वारा प्राण हानि की आशंका से वह पुत्र को गुफा में छोड़कर लौट आयीं। मंत्री और राजपुरोहित ने पूछताछ करके घटना का पता लगाया। उन्होंने गुफा में जाकर देखा कि बहुत से मूषक राजपुत्र को घेर कर पहरा दे रहे हैं। वे लोग शिशु को उठाकर लौट आये। इसी कारण उसका नाम पड़ा मूषण वर्मन। अनंतर रानी और उनके पुत्र ने कांगड़ा में एक ब्राह्मण परिवार में आश्रय ग्रहण किया और उसी ब्राह्मण को अपना गुरु बनाया। एक दिन उस बालक के पद-चिह्नों पर दृष्टि पड़ने पर ब्राह्मण ने चकित होकर देखा कि उसमें राजपदचिह्न के लक्षण हैं। उन्होंने रानी से प्रश्न किया। वास्तविक वृत्तांत जाना। सुकेत के राजा से मिलकर उन्होंने सारी बातें बतायीं। तब से उन लोगों को सुकेत राजपरिवार में आश्रय मिला।

अनंतर सुकेत की राजकुमारी के साथ मूषण वर्मन का विवाह हुआ और उन्होंने सेना संगठित करके फिर ब्रह्मपुर (भरमौर) आकर अपने राज्य का उद्धार किया। मूषण वर्मन ने जब फिर अपना राज्य वापिस लिया तो उसके बाद उनके राज्यकाल की और किसी घटना का यद्यपि पता नहीं लगता, लेकिन उनके राजा होने के बाद से ही उनके राज्य में मूषक-हत्या का पूरी तरह से निषेध हो गया और आधुनिक काल में भी चम्बा राजवंश में उस नियम का पालन किया जाता था। राजभवन में या निवासस्थान में मूषक दीख पड़ने पर भी उन्हें मारने का निषेध था।

राजस्थान के बीकानेर ज़िले के देशनोक गाँव की याद आती है। वहाँ करनी माता का प्रसिद्ध और विशाल मंदिर है। वह सफेद पत्थरों से बना है। साफ-सुथरा है। लेकिन किलकिलाते हुए चूहों का दल वहाँ घूमता रहता है—चबूतरे पर, गर्भगृह में चारों ओर। फिर भी वहाँ चूहों का मारना निषिद्ध है। चूहे यात्रियों के पैरों पर चढ़कर चले जाते हैं। मंदिर के भीतरी भाग में प्रवेश करने पर, अर्द्धाकार में, बड़ी सावधानी से, पैर घसीट कर चलना पड़ता है कि कहीं अनजाने पैर से कुचल कर कोई चूहा मर न जाये। पता नहीं, इन दोनों निषेधाज्ञाओं में कोई सम्बंध है या नहीं।

सन् 920 ईसवी में साहिल वर्मन राजा हुए। चम्बा के इतिहास में ये सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के राज्यकाल में राजधानी भरमौर से हटकर चम्बा नगर में स्थापित हुई। उनकी कन्या चम्पादेवी की तथा अन्य कई कथाएँ पहले ही कही जा चुकी हैं। वह अनेक युद्धों में विजयी हुए।

चम्बा राज्य की सीमा का भी विस्तार हुआ। युद्धों में साहिल वर्मन के नित्यसंगी चर्पटनाथ नामक एक योगी थे। वे राज्य संचालन तथा नयी राजधानी की स्थापना के सभी कामों में भी सहायक और परामर्शदाता थे। चम्बा नगर में लक्ष्मीनारायण मंदिर के समीप इन्हीं चर्पटनाथ का एक मंदिर भी बाद में स्थापित हुआ। साहिल वर्मन ने जिस मुद्रा का प्रचलन किया था, उस पर भी इन योगी की प्रतिकृति अंकित थी। अपने पुत्र युगाकर को राज्यभार सौंपकर साहिल वर्मन फिर भरमौर लौट आये थे और चर्पटनाथ तथा अन्य योगियों के साथ यहीं उन्होंने संन्यासी का जीवन बिताया था।

मैंने सोचा, भरमौर की भी कैसी विचित्र परिणति है। कभी जो राजा की राजधानी थी, बाद में वही सिंहासनत्यागी राजा के संन्यासी जीवन का योगाश्रम बना। भरमौर में राजाओं के प्राचीन महल का अब कोई चिह्न नहीं है। चौरासी से थोड़ा ऊपर एक मैदान है—चौगान। कहा जाता है कि वहीं पर राजा का महल था।

चौरासी के आँगन में, कई पुराने मकानों में आजकल सरकारी दफ्तर हैं। सन् 1905 के भूकम्प में उन मकानों की भी जर्जर स्थिति बनी थी। अब नये सरकारी मकान बन रहे हैं। वहाँ शहरी सभ्यता का प्रवेश भी हो रहा है। अभी वहाँ की जनसंख्या 720 है। पुरुष 381, महिलाएँ 339 हैं।

नरसिंह देव के मंदिर से लगा हुआ नागा बाबा का आश्रम है। इस समय इन निर्वापितप्राय देव मंदिरों की मानो अंतिम ज्योति वही है।

सूद खबर लेकर आये कि अभी-अभी दर्शन देना समाप्त करके बाबा

अंदर गये हैं। अब अपनी संध्या-क्रिया आदि में लगेंगे।

मैंने मन-ही-मन प्रणाम किया। मैंने कहा, लगता है कि कल सवेरे भी यात्रा के पहले समय नहीं मिलेगा। लौटने पर निश्चय ही दर्शन होंगे।

पास ही कई पुराने मकान थे। उनकी हालत खस्ता थी। आजकल वहाँ सरकारी तहसीलखाना और डाकघर हैं। राजा की धर्मशाला में आजकल हाई स्कूल है। प्राचीन गरिमा और स्थापत्य-सौंदर्य का आधुनिक काल की प्रयोजनीयता के भूपकाष्ठ पर बलिदान हो गया है।

लेकिन भरमौर का प्रधान मंदिर यहाँ नहीं है। वह शहर से दूर, पहाड़ी की खासी ऊँचाई पर है। ब्रह्माणी देवी का वह मंदिर बहुत पुराना है। वहीं से जल की धारा नीचे शहर में उतरती है। भरमौर का पुराना नाम ब्रह्मपुर है। इन ब्रह्माणी देवी के नाम पर ही इसका नामकरण हुआ है। ब्रह्मपुर ही लोक-मुख से भरमौर हो गया।

घूम-फिर कर प्राचीन तीर्थों को देखता रहा।

अभी नागा बाबा का दर्शन न मिलने से मन बहुत दुखी हो गया था। मैंने सोचा, नगर में प्रवेश करने के समय ही, बिना जाने और बिना माँगे दर्शन हो गये थे। पता नहीं क्यों, मन उसी समय श्रद्धानत हो गया था। यथासमय फिर निश्चय ही दर्शन होंगे।

हुआ भी ऐसा ही। तीन दिनों के बाद मणिमहेश की यात्रा से लौटने पर उनका दर्शन मानो मणिमहेश तीर्थयात्रा का एक अभिन्न अंग रहा। उस दिन तीसरे पहर समय रहते ही पहुँच गया था। सूद ही ले गये थे। छोटे से हॉल जैसा छप्परवाला कमरा।

साज-सज्जा कुछ नहीं, लेकिन साफ-सुथरा। पत्थर जड़ी और मिट्टी से लिपी ज़मीन। सामान-असबाब नहीं। आसन और कम्बल बिछा हुआ। कमरे में घुसने पर जान पड़ता है, कमरा सूना है। फिर भी कुछ अदृश्य है, जिससे भरा हुआ है। नागा बाबा आसन पर बैठे हैं। उन्होंने एक कम्बल लपेट रखा है।

माथा, दाढ़ी, मूँछ सब घुटा हुआ है। देह का रंग गोरा है। आँखों में प्रखर दीप्ति है। मानो उससे प्रकाश छिटक रहा हो। लेकिन जब किसी की ओर देखकर बातें करते हैं तो वह दृष्टि स्निग्ध और कोमल होती है। ऐसा लगता है, जैसे अंतर से स्नेह की धारा झर रही है। उस धारा-स्नान से श्रोता का देह-मन निर्मल परितृप्ति से भर जाता है। स्थिर भाव से बैठकर उनकी बातें सुनता रहा। उनकी बातों में विद्वत्ता की अभिव्यक्ति नहीं थी। चिरंतन धर्म की

मूल कथा थी--उसी की सहज सरल व्याख्या। सुनने से मन आनंद से भर जाता था।

प्रसाद बाँटने में नागा बाबा को बड़ा उत्साह था। जो भी आता, बैठाकर खूब भोजन कराते। विशुद्ध घी में बना और किशमिश-बादाम पड़ा हलवा। अपूर्व स्वाद था। उनका भंडार असीम था। सुनने में आया कि चाहे जितने दर्शनार्थी आयें, प्रसाद-विरतण चलता ही रहता है। गिलास में भरकर चाय भी आयी। चाय क्या, वह भी एक सुस्वादु भोजन ही था। उसमें इलायची, लौंग वगैरह पड़ी थी। उन्होंने मणिमहेश की कथा सुनायी।

बंगाल से आया हूँ, यह जानकर उन्होंने श्रद्धेय दिलीप कुमार राय के बारे में पूछताछ की। प्रयाग में, कुंभ के अवसर पर, दोनों की भेंट हुई थी। प्राणों को विह्वल कर देनेवाला उनका भजन सुनकर नागा बाबा को असीम आनन्द हुआ था। ऐसा उन्होंने बताया। तब मुझे श्रद्धाभाजन दिलीप कुमार और इन्दिरा देवी द्वारा लिखित कुंभ सम्बंधी पुस्तक का स्मरण आया--Khumbha : India's ageless festival। उसमें मैंने चम्बा-निवासी एक महात्मा के साथ प्रयाग में उनके साक्षात्कार का मर्मस्पर्शी विवरण पढ़ा था। पुस्तक में फोटो भी छपी थी। लेकिन वह तो भिन्न सज्जा थी, दूसरी मूर्ति थी--दाढ़ी-मूँछ-जटाधारी। दूसरे दिन, भरमौर से लौटने से पहले, नागा बाबा से विदा लेने गया। उस समय मैंने उनकी ज्योतिर्मय मूर्ति देखी थी, वह दृश्य भूलनेवाला नहीं है।

नागा बाबा का साधना-कक्ष। मंदिर के समान ऊँची छत, कमरे में कहीं कुछ भी नहीं है। पत्थर की ज़मीन के बीचों-बीच बड़ा-सा हेमकुंड। उसी के सामने बिछा हुआ विशाल व्याघ्रचर्म। योगी जयकृष्ण उसी आसन पर विराजमान थे। केवल कोपीन धारण किए हुए थे। शरीर अनावृत था। ललाट पर भस्म लगा हुआ था। मानो पत्थर तना हुआ था। बातें उन्होंने नहीं कीं। मैंने धीरे-धीरे निकट जाकर साष्टांग प्रणाम किया। उन्होंने मेरी ओर देखा। निःस्पंद शरीर, केवल ऐसा जान पड़ा मानो अधरों के कोने में स्निग्ध- मधुर हँसी की अस्फुट रेखा हो। आँखों की गोद में स्नेहाशीर्वाद की करुण-धारा थी। सिर झुकाकर बाहर चला आया। मन आनंद से भर गया था। मैंने मानो बिन बोली न जाने कितनी वाणी अपने प्राणों के गोपाल पुर में सुनी।

कई साल बाद उनके तिरोधान का संवाद मिला। मुझे लगा, जैसे कोई बहुमूल्य वस्तु कहीं खो गयी।

चौबीस सितम्बर। सवेरे आठ बजे मणिमहेश के लिए यात्रा आरम्भ

हुई। सूद और कुछ स्थानीय नये मित्र कुछ दूर तक पहुँचा देने के लिए साथ चले। गाँव से कई मील तक आये। लौटने का अनुरोध करने पर कहते, चलिये, कुछ दूर और साथ चलें।

सामने विशाल खड्डा था। रास्ता टूट गया था। वहीं तक आकर उन लोगों ने बतला दिया कि पगडंडी के किस मार्ग से पहाड़ की चढ़ाई पर चलना होगा। उसी तरह हम पहाड़ चढ़ने लगे। शुभेच्छा प्रकट करके वे लौट गये।

हम चीड़ के जंगल में चल रहे थे। वे वृक्ष नहीं थे, उनमें जैसे न जाने कितने परिचित मित्रों का समावेश था। मधुर सुगंध फैल रही थी। रास्ता संकरा था। चक्कर खाता ऊपर चला गया था। प्रभातकालीन मधुमय वायु। समीर का शीतल स्पर्श। धीरे-धीरे चढ़ाई चढ़ता हुआ ऊपर उठ रहा था। हमारे साथ एक कुली था, जिसका प्रबन्ध सूद ने कर दिया था और दूसरा फॉरेस्ट गार्ड था। कुछ दूर चलने के बाद रास्ता दो भागों में विभक्त होकर दो तरफ चला गया। फॉरेस्ट-गार्ड ठिठक कर रुक गया। किस रास्ते से जाना है, इसके बारे में वह संदिग्ध हो उठा। सौभाग्यवश ठीक उसी समय एक दूसरा फॉरेस्ट-गार्ड आ पहुँचा। उसने ठीक रास्ता बतला दिया।

भरमौर से पाँचेक मील की दूरी पर भ्रुंगला गाँव था। कितने ही घर-मकान थे। भरमौर का फॉरेस्ट गार्ड यहाँ से लौट गया। नया गार्ड साथ चला। साथ का कुली भी और आगे नहीं जाना चाहता था। कहने लगा, अपने गाँव से बहुत दूर आ गया हूँ। लौट जाऊँगा।

हिमाद्रि ने बख़्शीश का प्रलोभन दिया। कोई लाभ नहीं हुआ। वह एक ही बात कहता जा रहा था, गाँव छोड़कर बहुत दूर आ गया हूँ, अब आगे नहीं जाऊँगा।

हिमाद्रि ने पूछा, "तब फिर साथ जाने के लिए आये क्यों थे ? मणिमहेश क्या तुम्हारे घर के पास आ जायेंगे ?"

फॉरेस्ट गार्ड उसी गाँव से एक दूसरे आदमी को ले आया।

नये फॉरेस्ट गार्ड का नाम था शेरचंद। सुदर्शन रूप। अंग्रेज़ों-जैसा रंग। पोशाक पहनावे में चमक-दमक। अंच्छा-सा, गरम फुल्ल पैंट धारीदार रंगीन पशमी जैकेट। लाल-पीला-काला रंग। हिमाद्रि ने हँसकर कहा, "शेरचंद, तुम शेर की तरह ही लग रहे हो।"

फॉरेस्ट गार्ड के माथे पर हरी टोपी थी। उसमें मुनिया चिड़िया के पर लगे हुए थे। सामान चाहे जितना थोड़ा हो, खुद लेकर नहीं चलता था।

अपने सरकारी पद की मर्यादा के प्रति सदा सजग रहता था। उसे देखकर मैंने कहा, तुम्हारे साथ तुम्हारा ए.डी.सी. जा रहा है। हम फिर वन-पथ से जा रहे थे। रास्ते में बहुत थोड़े-से लोग मिले। दूरवाले बर्फ़ीले पहाड़ और निकट आ गये। मालूम हुआ कि सामने के पहाड़ से मणिमहेश का शिखर ढक गया है।

चार मील और चलने पर, रास्ते से थोड़ा ऊपर, सांडी का फॉरेस्ट रेस्ट-हॉउस है। खासा सुंदर बंगला है। फूलों का बगीचा भी है। पुकारने पर भी चौकीदार का पता नहीं चला। कमरों में ताला बंद था। लाचार, बरामदे में बैठकर साथ आये परांठे-सब्जी का आहार हुआ। लेकिन तृप्ति नहीं हुई। भूख मिटी, पर तृष्णा नहीं गयी। खोज-ढूँढ करने पर भी कहीं एक बूँद जल नहीं मिला। टमाटरों से पौधे लदे हुए थे। उन्हीं को तोड़कर खाया गया। गला भी तर हुआ।

यहाँ भी नीचे की ओर रास्ता टूटा हुआ था। जंगल के रास्ते से हम लोग घूम कर चले। शेरचंद को राह-बाट की अच्छी जानकारी थी। रास्ते के टूटे हुए हिस्से को पार करने के बाद हम फिर मुख्य मार्ग पर आ गये। अंतिम भाग में बड़ा-सा झरना था। बड़े वेग से जल सीधा गिर रहा था। चारों ओर पत्थर थे। जल से भीग कर उन पर फिसलन हो गई थी। कहीं-कहीं धारा पत्थर के ऊपर से बह रही थी। पत्थरों के ऊपर से पानी के सोते को फलांगकर जाना था। शेरचंद ने आगे बढ़ कर हमें हाथ का सहारा दिया।

रास्ता कई मील तक सीधा था। निश्चिंत मन से बढ़ा जा रहा था। हड़सर गाँव दीख पड़ा। यह इस रास्ते का अन्तिम गाँव है, जहाँ लोग रहते-बसते हैं। गाँव बड़ा है। ऐसा लगता है कि ऊँचाई आठ हज़ार फुट से अधिक है। रास्ते की दाहिनी ओर से थोड़ा ऊपर मंदिर है। सभी मकानों की ढालू छाजनों पर भुट्टे सूख रहे थे। ऐसा लगता था जैसे गेरुए चादर से ढका हो। दो बज गये थे। धणछो अभी और पाँच मील आगे है।

मैंने शेरचंद से कहा, "चलो आगे बढ़ चलें। वहीं आज रात बिताएँगे। कल सवेरे मणिमहेश की चढ़ाई चढ़ने में बहुत सुविधा होगी।"

उसने कहा, "देखें यहाँ कितना समय लगता है। दो दिन के भोजन के लिए आलू, चावल, आटा लेना होगा। अपने और कुली के लिए किराये पर कम्बल भी लेना होगा। इसके अलावा, मणिमहेश के पंडों का गाँव यही है, यहाँ से एक पंडा भी साथ ले चलेंगे।"

भोजन और कम्बल का प्रबन्ध हुआ। पंडाजी भी आ गये। यह

जानकर आश्चर्य हुआ कि उनकी कोई माँग नहीं है, जो जितना दे देता है, उसे ही ये खुश होकर ले लेते हैं। यात्रियों के साथ जाना उनका कर्तव्य है। उसी का पालन करते हैं।

मैंने सोचा, अनजानी राह है। सब लोग डरा रहे हैं कि अभी जाना सम्भव नहीं होगा। साथ में दो-एक आदमी और रहें तो बुरा क्या है।

सारी व्यवस्था हो गयी, लेकिन अचानक फिर वर्षा होने लगी। शेरचंद चिन्तित हुआ। बोला, "पहाड़ पर धणछो में बर्फ़ गिरने लगेगी, हम लोग पहुँच नहीं पायेंगे। खतरा हो सकता है।"

उसके खूबसूरत कपड़े पानी में भीग न जायें, इसी से उसने कमरे में चबूतरे के कोने में आश्रय लिया।

मैं कुछ और सोच रहा था। हिमालय में जब चाहे अचानक पानी बरसने लगता है, फिर वैसे ही अचानक खुल भी जाता है। जैसे वह देवता की मौज-मस्ती हो। विचार-बुद्धि से उस की पहुँच नहीं होती। हो सकता है कि यह वर्षा अभी थम जाये। अपने पास समय काफी है। सामने रास्ता है। कल अगर मौसम और खराब हो जाये? सामयिक आराम के लोभ अथवा अपेक्षा से हम बैठे क्यों रहें ?

हमने यात्रा आरम्भ कर दी। बूँदा-बाँदी होती रही। कुछ देर बाद रुक भी गयी।

माथे पर नीला आकाश झाँक रहा है। चारों ओर के पेड़-पौधे पानी में भीग कर झिलमिला रहे हैं। हिमाद्रि ने प्रसन्न होकर कहा, "यह तो जैसे छोटे बच्चों का खेल हो। अभी मेल अभी झगड़ा। तुरन्त हँसना, तुरन्त रो पड़ना।"

हड़सर के नीचे बुड्ढल नदी है। सुना कि नदी के पार चोबिया गाँव है। पहाड़ के ऊपर चोबिया दर्रा है। वहाँ से भी लाहुल जाया जा सकता है।

बुड्ढल नदी के नीचे बायें हाथ छोड़कर आगे बढ़ता हूँ। कुछ दूर चलने पर रास्ता दो भागों में विभक्त हो जाता है। बायीं ओर का रास्ता नदी के किनारे-किनारे नीचे उतर जाता है। वह सुदूर बर्फ़ीले पहाड़ों की ओर चला जाता है। शेरचंद ने कहा, "इस रास्ते से लगभग बारह मील जाने पर कुगती गाँव है। उधर भी कुगती के दर्रे से लाहुल में उतरने का रास्ता है। वह चन्द्रभागा की उपत्यका में त्रिलोकनाथ के निकट पहुँचा देता है। हम दाहिनी ओर के रास्ते से चले। पहाड़ पर कई मील चलकर हम लोग नीचे एक नदी के किनारे उतरे। वह धणछो नाला था, जो आगे बढ़कर बुड्ढल नदी में मिल जाता

है। इसी धणछो के साथ हमारी यात्रा का मार्ग है। बुड्ढल नदी बायीं ओर रह जाती है।

हमारा रास्ता दाहिनी ओर घूम जाता है। धणछो नाला जैसे सुन्दर पहाड़ी बाला हो। कल-कल करता बहता जा रहा है—एक से दूसरे पत्थर पर छलांग लगाता हुआ। रास्ता कभी जल के बिल्कुल निकट उतर आता है, कभी नदी को छोड़कर थोड़ा ऊपर उठ जाता है। संकरी उपत्यका। दोनों ओर हरे पेड़-पौधे। सामने, कुछ ही दूरी पर, बर्फ़ से ढका पहाड़ का शिखर। गिरि-सोपान से होकर नदी नीचे उतरती दीख पड़ती है। हरा वन मानो उसकी ओढ़नी हो। श्वेत फेन जैसे उसके पाँवों में चाँदी के नूपुर हों।

नदी उतरती है। रास्ता ऊपर उठता है। धीरे-धीरे आनन्दपूर्वक हम भी चलते हैं। आकाश मेघहीन है। मन भी चिंता-शून्य है।

रास्ते का मोड़ घूमते ही अचानक देखा कि विपरीत दिशा से एक साधु उतरे आ रहे हैं। अकेले हैं। मस्तक पर थोड़ी जटाएँ हैं। शरीर पर कम्बल लिपटा हुआ है। पाँव नंगे हैं। हाथ में चिमटा है। मुँह, आँख और शरीर के रंग पर भयानक शीत झेलने के सुस्पष्ट चिह्न हैं। काला झाँवला भाव। ओंठ और गाल फटे हुए।

अभिवादन करके मैंने पूछा, "दर्शन कर आये ?"

उन्होंने कहा, "हाँ। यहीं तो उतर रहा हूँ। तुम लोग इधर कहाँ जा रहे हो?" हमारा अभिप्राय सुनकर गंभीर हो गये। हाथ हिलाकर उन्होंने कहा, "मणिमहेश! ताकत नहीं है। बहुत बर्फ़ है। लौट जाओ, लौट जाओ।"

उनकी बात सुनकर भी मन डरा नहीं। जाने की आकांक्षा और उत्साह दूना हो गया। मैंने हँसकर कहा, "जहाँ तक हो सके, आगे तो जाऊँ। देखा जाये, हमारे भाग्य में क्या है।"

उन्होंने फिर भयानक मार्ग, निदारुण शीत और प्रचुर तुषारपात का उल्लेख किया। बार-बार हाथ हिलाकर वह आगे जाने का निषेध करने लगे। फिर गम्भीर भाव से पहाड़ से उतर चले।

मैंने सोचा, यह सब देवता की परीक्षा ही है। अभीष्ट लाभ के मार्ग में बाधाओं का सुस्वाद।

तीन दिन बाद इन्हीं साधु जी से अचानक फिर भेंट हो गयी। मणिमहेश का दर्शन करके भरमौर वापिस लौट रहा था। सांडी फॉरेस्ट बंगले के चौकीदार के कमरे के सामने साधु जी ध्यानमग्न होकर, परम परितृप्ति के साथ भोजन कर रहे थे। मैंने फिर अभिवादन किया। हिमाद्रि आगे बढ़ गया।

उसने हँसकर कहा, "स्वामी जी! हम लोग घूम आये। शिवजी ने खूब अच्छी तरह से दर्शन दिये।"

साधु कुछ नहीं बोले। गम्भीर होकर दूसरी ओर देखने लगे। मैंने देखा दो दिन यहाँ विश्राम करके और चौकीदार की सेवा पाकर उनका चेहरा बदल गया है।

धणछो नाले के अन्तिम भाग में एक से दूसरी तह पर जल-प्रपात गिर रहा था। नदी का पानी एक से दूसरे पत्थर पर छलाँग लगाता उतर रहा था। हम लोग भी पहाड़ पर चढ़ने लगे।

शारीरिक कष्ट सहने में भी एक आनन्द है। पाँच वजे के लगभग हम लोग पहाड़ के शिखर के निकट पहुँच गये। हमने दम लिया। मन में तृप्ति का अनुभव किया। विस्तीर्ण मैदान। उन्मुक्त उदार मैदान ने हरी घास का गलीचा बिछाकर आदर के साथ हमारा स्वागत किया। मैदान के बीच-बीच में जल की धारा वह रही थी। क्षीणकाय धणछो नाला भी प्रवाहित था। पेड़-पौधों का कोई चिह्न नहीं था। केवल एक ओर, बहुत नीचे, धणछो नाले की जो उपत्यका हम छोड़ आये थे, वहीं वृक्षों की भीड़ थी। मैदान को तीन ओर से ऊँचे पहाड़ों ने घेर रखा था, सब के शिखर सफेद बर्फ़ से ढके हुए थे। मैंने इनमें से मणिमहेश शिखर को ढूँढना चाहा। शेरचंद ने बतलाया, "यहाँ से वह नहीं दीख पड़ता। कल झील के निकट पहुँचने पर अचानक उसे देख सकेंगे।"

मैदान के एक हिस्से में नदी के पारले-पार लकड़ी की छाजन थी। धर्मशाला। आज की रात वहीं बीतेगी। निकट जाकर देखा, दुतल्ला घर था। पहाड़ से होकर, घूमकर, दुतल्ले पर जाना होता है। ऊपर लकड़ी की ही छाजन थी, लकड़ी का ही फर्श। एक के बाद एक तख्ता बिछा हुआ था, माथे के ऊपर भी पहाड़ की टेक लगाकर तख्ते सजे हुए थे, सूक्ष्म कोण (Acute angle) से। परिणामस्वरूप कमरा इतना नीचा था कि अन्दर जाने पर खड़ा होने का कोई उपाय नहीं था। घुटनों के बल चला-फिरा जा सकता था। किसी तरह से वहाँ घुस कर मचान पर रात बिताने की बात थी। मुझे उसमें भी एतराज़ नहीं था। लेकिन जब देखा कि सिर के ऊपर छाये तख्तों में पारस्परिक सद्भाव नहीं है। उन्हें विशृंखल भाव से सजाया गया है। बीच में लम्बे-लम्बे फॉफर हैं। लेटकर मज़े में आसमान देखा जा सकता है तो मेरा माथा ठनका। सौंदर्योपयोग की दृष्टि से तो अच्छा ही था, लेकिन रात को निश्चिंत होकर विश्राम करना दूर की बात थी। वर्षा होने या बर्फ़ पड़ने पर

तो बैठे-बैठे भीगा ही जा सकता था। अतः नीचे ठहरने का ही निश्चय हुआ। वहाँ भी, एक ओर तो पहाड़ था, शेष तीन ओर का हिस्सा खुला था। हू-हू करके बर्फ़ की ठंडी हवा भीतर घुसी आ रही थी। सामान्यतया वहाँ भेड़-बकरियाँ आश्रय लेती थीं। इसी से ज़मीन पर उनकी विष्ठा और सूखी घास फैली हुई थी। शेरचंद ने बताया कि इसी पर कम्बल बिछा कर सो जाइए, रात बिताइए, खासे गरम रहेंगे।

हिमाद्रि ने कहा, "ऐसी गद्दी नरम और गरम तो अवश्य ही होगी, लेकिन यहाँ तो दुर्गंध बहुत है।"

शेरचंद कहीं चला गया। कुछ देर बाद लौट आया। उसके साथ एक गद्दी अपनी पीठ पर कुछ लकड़ियाँ और एक लोटा दूध लेकर आया। उसने कहा, "कई महीनों तक यहाँ भेड़-बकरियाँ चराने के लिए जो गद्दी आये थे, वे सभी लौट गये। ये दो-तीन लोग अभी रह गये हैं। कल-परसों तक ये भी नीचे उतर जायेंगे।"

दूध भेड़ का था। जो भी हो, कॉफी मिला कर गरम-गरम पीने में बहुत स्वाद आया। कमरे में आग जलायी गयी। आराम से तापते रहे। बाहर वर्षा भी होने लगी थी।

हिमाद्रि ने कहा, "सारा प्रोग्राम जैसे सजा-बना कर रखा गया है। रास्ते में अगर यह वर्षा आती तो हम लोग तो भीग ही जाते। ओढ़ना-बिछौना भी सूखा न रहता। अब आराम से सोया जाये।"

लेकिन दुर्गंध कितनी भयानक है। आधी रात को भयानक ठंड के कारण नींद खुल गयी। आग बुझ गयी थी। पाँवों की ओर से हू-हू करती हवा अन्दर आ रही थी। ऊनी बनियान, पुल-ओवर, मंकी कैप, ऊनी पैंट—जो कुछ भी पास था, पहन कर स्लीपिंग बैग में घुस गया। तब भी ऐसा लग रहा था, मानो नंगे बदन ठंडे पानी में बह रहा हूँ। बर्फ़ीली हवा सचमुच हड्डियों में डंक मार रही थी।

हम दोनों हू-हू करके कांपते रहे। किसी तरह रात कटे तो जान बचे। शरीर में तो ऐसी बेचैनी थी, लेकिन मन असीम आनंद से भरा था। बाहर गहन नीला आकाश दीख रहा था। हज़ारों तारों की हीरक हँसी थी। तुषार-शिखरों का रहस्यमय इंगित था। मणिमहेश के कल दर्शन होंगे।

हिमालय की महिमा अद्‌भुत है। सारी रात नींद नहीं आयी, फिर भी शरीर न ग्लानि का अनुभव कर रहा था, न अवसाद का। प्रसन्न मन से पूरे उद्यम के साथ यात्रा का आयोजन हुआ। जो मार्ग हम पीछे छोड़ आये थे वह

जैसे किसी अतीत युग की दुनिया थी। आज एक नवीन मानव नये जगत में जागा था।

सवेरे आठ बजे यात्रा आरम्भ हुई। छह मील की दूरी पर मणिमहेश झील है। सवेरे ठंड का प्रकोप तो है ही, ऊपर से हिमालय की तुषार-शीतल वायु है। चारों ओर के पहाड़ों के शिखरों पर पिछली रात की पड़ी नयी वर्फ़ है। सवेरे की ठंड में सफेद चादर को और भी खींच कर, सिर-मुँह ढक कर, धूप की आशा में जैसे अति-वृद्धों की साग्रह प्रतीक्षा हो। पहले तो हमने कुछ पग तेज़ी से ही बढ़ाये, जिससे अनायास शरीर में गर्मी आ गयी। जाड़ा लगना बंद हो गया, किंतु सामने ही मणिमहेश की प्रसिद्ध अन्तिम चढ़ाई थी। इसी से हम सदा की भांति धीमी गति से चलने लगे। आकाश मेघ रहित। मन में भी गहरा आनन्द था। भावना चिंता से रहित। पत्थर-जड़ा रास्ता उठता ही चला गया। खड़े पहाड़ पर पत्थर काटकर सीढ़ियाँ बनायी गयी थीं। कहीं सीढ़ियों की तरह पत्थरों पर पत्थर जमाये गये थे। कहीं-कहीं पत्थर डगमगाने वाले थे और बराबर भी नहीं थे। बड़ी सावधानी से पाँव टिका कर चढ़ना पड़ता था।

काली और बड़ी-बड़ी शिलाएँ भी थीं। जल और बर्फ़ के निरन्तर सम्पर्क से कहीं-कहीं फिसलन थी। चढ़ते समय तो खास डर की बात नहीं थी, लेकिन मैं समझ सकता था कि लौटते समय सावधानी की ज़रूरत होगी। इस समय पत्थर के ऊपर कहीं-कहीं जल की धारा तो मिलती थी, लेकिन बर्फ कहीं नहीं थी। वृष्टि के समय इस मार्ग की दुर्गमता की कल्पना नहीं की जा सकती। बर्फ़ से ढकने पर तो शायद चलना ही संभव न होगा। इसी से रास्ते के इस हिस्से का नाम भी 'बानर घाटी' है। मनुष्य के चलने योग्य स्थान नहीं है। हाथ-पैरों के सहारे ऊपर चढ़ना पड़ता है। फिर भी चढ़ने में कोई खास तकलीफ नहीं होती। बहुत धीरे चाहे जितने भी धीरे क्यों न हो... बिना रुके एक-एक पग चढ़ते जाने पर अत्यंत दुरूह चढ़ाई भी एक समय खत्म हो ही जाती है। बानर घाटी की चढ़ाई भी देखते-देखते खत्म हो गई।

पीछे, बहुत दूर धणछो का मैदान, धर्मशाला और नदी की पतली रेखा दीख पड़ती है। दाहिनी ओर, सामनेवाले पहाड़ के एक अंश से धणछो की जलधारा नीचे की ओर छलाँग लगाती है। वहाँ नदी का नाम 'अमर गंगा' है। बड़ा सुन्दर जल-प्रपात है। शेरचंद कहता है, यात्रा के समय इस धारा के नीचे सिर झुका कर स्नान करने की प्रथा है। लोग कहते हैं, किसी समय स्त्रियाँ पासवाले पत्थर से जल के वेग के सामने छलाँग लगाकर आत्महत्या करती

थीं। इस प्रकार के आत्मदान की मर्यादा थी। यात्री इसे महान् पुण्य कर्म मानते थे। अब अवश्य ही वे सारी धारणाएँ मिट गयी हैं।

बानर घाटी के बाद भी अभी चढ़ाई है--'भैरव घाटी'। मन में संकल्प और स्फूर्ति लेकर चढ़ने से कोई चढ़ाई असाध्य नहीं होती। यह चढ़ाई भी खत्म हुई। एक विशाल पहाड़ के टूट गिरने का अतीत चिह्न दिखाई पड़ा। बड़ी चढ़ाई के बाद थोड़ी-सी समतल भूमि है। रास्ता चलने पर पाँव सीधा पड़ने लगा। आराम महसूस हुआ। लेकिन शरीर का आराम और सामयिक है। सामने ही फिर पर्वत श्रेणी है। पत्थर के बाद पत्थर। उन्हीं के ऊपर से चक्करदार रास्ता ऊपर जाता है। हम गिरि श्रेणी के शिखर पर पहुँचते हैं। देखने में गिरिपथ जैसा लगता है। सोचता हूँ, यही शायद चढ़ाई का अन्त है। ऊपर चढ़ कर देखते हैं कि सामने और ऊँचा पहाड़ है और चढ़ाई, मन में भय-चिंता नहीं है। नये जगत् का स्वाद पाकर परम आनन्द जागृत होता है। हम बर्फ़ के राज्य में आ पहुँचे हैं। चारों ओर केवल पत्थर, बर्फ़ और जल की धारा है। पास ही एक छोटी झील है। कहते हैं, यह गौरी कुंड है। मणिमहेश के सभी यात्रियों के यहीं स्नान करने का विधान है। रास्ते के पास एक छोटी नदी है, जिसकी बर्फ़ गल गयी है। मानो स्वच्छ धारा है। पानी के भीतर बालू का एक-एक कण दीखता है। नदी के ऊपर एक छोटा तख्ता पड़ा हुआ है। वह पुल का काम देता है। ऊपर फिर चढ़ाई है। यद्यपि अधिक नहीं है। ढालू पहाड़ी देह। नयी गिरी बर्फ़ फैली हुई है। पाँवों के बोझ से बर्फ़ काँच की तरह टूटती है। आनन्दपूर्वक ऊपर चढ़ता जाता हूँ। थोड़ा और चढ़ने पर सामने की इस चढ़ाई के खत्म होते ही--'मणिमहेश शिखर!'

अभी बादल घिरे हुए हैं। कुछ नहीं दीखता।

पलट कर देखता हूँ, उधर का दिगन्त हलके कुहरे से घिरा हुआ है। हिमाद्रि लम्बी साँस लेता है। बहुत उदास होकर कहता है, "उधर तो कुछ भी नहीं दीखता। इतना कष्ट सहकर आये भी और अन्त में क्या...।"

उसे बीच ही में रोक देता हूँ। उत्साहित करता हूँ, "बढ़ते चलो, चिंता किस बात की है ? हिमालय करुणामय हैं। देख लेना, हमारी यात्रा कभी विफल नहीं होगी।"

देखते-ही-देखते हम झील के किनारे पहुँच जाते हैं। साढ़े बारह बज चुके हैं। छह मील का रास्ता पार करने में चार घंटे से कुछ अधिक ही समय लगता है। झील के पास नया फॉरेस्ट बंगला है। हाल ही में बन कर तैयार हुआ है। हिमाद्रि ने कहा, "इसके बारे में तो किसी ने बताया ही नहीं था। हमारे

सूद साहिब ने भी नहीं। पता होता तो रात बिताने की व्यवस्था यहीं हो जाती। यह तो स्वर्गराज्य है।"

झील लगभग चौदह हज़ार फुट की ऊँचाई पर है। इसकी परिधि लगभग एक मील होगी। चारों ओर बर्फ़ के पहाड़ हैं। कभी-कभी झील के किनारे भी बर्फ़ गिरती है। झील के पानी पर बर्फ़ जमी हुई है। ऐसा लगता है कि बर्फ़ की पर्त कहीं-कहीं आधा इंच मोटी होगी, जैसे गाढ़े दूध के ऊपर सफेद मोटी मलाई हो। कहीं कोई मंदिर नहीं है। देव मूर्ति भी नहीं है। झील के एक ओर, जल के निकट, मिट्टी में कई त्रिशूल गड़े हुए हैं। कुछ शिवलिंग भी हैं। शेरचंद कहता है, "इन्हें यात्री लोग रख गये हैं। यात्रा के समय यात्री लोग झील के किनारे तम्बू लगाते हैं। रात भर भजन-कीर्तन होता रहता है। यहाँ गद्दियों के दल बहुसंख्यक भेड़ों की बलि देते हैं।"

देखता हूँ, इसीलिए भेड़ों के बहुत से सींग चारों ओर बिखरे पड़े हैं। झील के चारों ओर घूम-फिर कर देखता हूँ। झील पर मेघ की म्लान छाया है।

सहसा बादलों को फाड़कर धूप निकल आती है। झील के चारों ओर के शुभ्र तुषार के लक्ष-प्रदीपों की आलोकशिखा मानो काँप रही है।

हिमाद्रि उल्लसित होकर चीख पड़ता है, "देखिये, देखिये! आँख उठा कर देखिये।"

सामने का कुहरा अचानक छंट जाता है। दिगंत का आवरण हट जाता है। मानो देवता के मन्दिर के बन्द कपाट खुलते हैं।

चारों ओर तुषार-मुकुट पहने गिरि-प्रहरी हैं। उन्हीं के बीच, नीले आकाश में मस्तक उठाये, मणिमहेश शिखर है। त्रिकोण आकृति है, जैसे शिवलिंग हो।

सागर-वक्ष से 18,654 फुट ऊँचा है। शिखर पर कहीं तुषार है, कहीं पत्थर। मानो पूजा के अन्त में श्वेत पुष्पों और बिल्वपत्र की पुष्पांजलि का चिह्न हो। पत्थर ऐसे विचित्र रूप से सजे हुए हैं कि लगता है शिखर पर सहस्रों त्रिशूल गुंथे हुए हों। कहीं-कहीं जीव-जन्तुओं की आकृति-सी दीख पड़ती है। शिखर से बहुत नीचे, उसी तरह के कई तुषारावृत्त पत्थरों को दिखलाकर शेरचंद कहता है, "ये हैं गद्दी, भेड़ों, महात्मा, कौआ और साँप की पत्थरों में परिणत मूर्तियाँ।"

सूद ने जो कहानी सुनायी थी, वह याद आ जाती है।

तिब्बत में कैलास शिखर जैसे देवता का प्रतीक है, उसी तरह यहाँ मणिमहेश शिखर ही शिवलिंग का प्रतिरूप है। उसी के पाद-प्राँत में सुधा-

गलित निर्मल झील का प्रशांत विस्तार है, जैसे कैलास की गोद में गौरीकुंड हो। झील के किनारे, स्थिर होकर एक पत्थर पर अकेला बैठ जाता हूँ। किसी अदृश्य निम्न उपत्यका से पूँजीभूत मेघ फिर उमड़ने-घुमड़ने लगते हैं। मणिमहेश को घेर कर वायु के सहारे ऊपर उठते हैं। ऐसा लगता है, जैसे वेदि-मूल से लहराता हुआ धूम उठ रहा हो।

धूम के उस आवरण में मणिमहेश अदृश्य हो जाते हैं। वह धूम राशि फिर वायु के साथ उड़ जाती है। मणिमहेश फिर प्रकाशित हो जाते हैं। सूर्य का प्रकाश पड़ता है। झील के परले हिस्से में, स्वच्छ जल में, मणिमहेश का प्रतिबिम्ब काँपता है।

शब्दहीन विराट निस्तब्धता! अनुपम स्वर्गीय शोभा! शाँत-समाहित ध्यान-मग्न विराट हिमालय, टकटकी लगाकर देखता रहता हूँ।

फिर असीम में खो जाता हूँ। पृथ्वी का सुख-दुःख, आशा-आकाँक्षा, धन-यश, मान-अभिमान, सबकुछ निरर्थक जान पड़ता है। अत्यन्त स्निग्ध गम्भीर प्रशांति हृदय को निर्मल बना देती है। हिमालय-मार्ग के इस अपार्थिव अमूल्य दान को सिर झुका कर प्राणों में ग्रहण करता हूँ।

*('मणिमहेश' : हिमाचल अकादमी प्रकाशन से)*

# चम्बा की ओर
## राहुल सांकृत्यायन

हम अपने सीमित समय के कारण सबसे उत्सुक इस बात के लिए थे, कि चम्बा देखने के लिए समय की कमी न हो जाए। 27 अप्रैल को सवेरे 5 बजे अर्थात् सूर्योदय से काफी पहले हमारी बस पठानकोट के लिए रवाना हुई। हम 6000 फुट की ऊँचाई से मैदान के एक शहर में जा रहे थे। पठानकोट नाम कितना भ्रामक है ? सुननेवाला यही समझेगा कि यहाँ पठानों का कोट रहा होगा। उदुंबरों के गण की राजधानी प्रतिष्ठान से इसका कितना अंतर है ? मुगलकाल में भी इसे पठान नहीं 'पैठान' कहा जाता था। पहाड़ के बाहर बसे प्रतिष्ठान को असुरक्षित समझ बहुत पहले ही राजधानी यहाँ से उठ कर धमेरी (धमेरिया) चली गई। शायद उदुंबर-गण के काल में नहीं, बल्कि पैठानिया राजवंश के समय। वीर उदुंबर 'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोप्रसूतिः' के माननेवाले थे। धमेरिया धर्मगिरि का नाम ही बतलाता है कि यह बौद्धकाल या प्राकृत भाषा काल का नगर था। गणों का खून जिन लोगों में था उन्होंने बहुत पीछे तक वीरता को अपने हाथ से नहीं जाने दिया, शायद इसीलिए पठानिया राजपूतों की तलवारें मुगलों के प्रताप के समय भी काबुल-कंधार ही नहीं वक्षुनदी की कछार तक अपना जौहर दिखलाती रहीं। हाँ, मुगलों की ओर से उस समय यहाँ के राजा बड़े-से-बड़े पदों पर आसीन थे। सम्राट् जहाँगीर के कितने भक्त थे, यह इसी से मालूम होगा कि उन्होंने अपनी राजधानी का नाम धमेरी से बदलकर नूरुद्दीन जहाँगीर के नाम पर 'नूरपुर' कर दिया, जिसके नाम से वह आज भी मशहूर है।

साढ़े तीन रुपये देकर पठानकोट का टिकट लिया। काँगड़ा-उपत्यका को पार करते हम सवा लाख (शिवालिक) की टेकरियों में चढ़ने-उतरने लगे। चक्की नदी यहाँ की बड़ी नदी है, लेकिन उसका प्रताप सिर्फ वर्षाकाल में ही दिखाई पड़ता है। कुल्लू-कांगड़ा-धर्मशाला जानेवाली सड़क होने से यह बहुत अच्छी बनी है। शायद वर्षा में भी चलती हो, चार-पौने चार घंटा चलने के बाद पौने नौ बजे हम धर्मगिरि के नीचे से चल रहे थे। एक पथरीली टेकरी के ऊपर या जनसाधारण की भाषा में एक अकेली शिला के

ऊपर पठानियों का दुर्ग बना था, जिसके कितने ही अवशेष अब भी देखे जा सकते हैं। नूरपुर कहने से सचमुच ही धर्मगिरि का पुराना इतिहास छिप जाता है। यद्यपि यहाँ की पुरातात्त्विक सामग्री की खोज-पड़ताल मामूली हुई है, तो भी प्राक्-मुस्लिम काल के अनेक अवशेष यहाँ मिले हैं। इस पहाड़ी किले को देख कर ही समझ में आ जाता था कि मैदान की अपनी प्राचीन राजधानी प्रतिष्ठान (पठानकोट) को क्यों छोड़कर उसे यहाँ लाया गया। अब भी नूरपुर में बाज़ार है, कितनी ही दुकानें हैं और एक बहुत चलती सड़क वहाँ से गुज़रती है। लेकिन इसकी आशा नहीं की जा सकती कि धर्मगिरि का गत वैभव फिर लौट कर आएगा। उसमें सबसे बड़ी बाधा पठानकोट है, जो जम्मू-कश्मीर, चम्बा और कुल्लू, अमृतसर और जलंधर के रेल और राजपथों का केन्द्र बन गया है, साथ ही पाकिस्तान की सीमा से नातिदूर होने के कारण वहाँ बहुत-सी सैनिक छावनियाँ भी हैं। पश्चिमी पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थी भाइयों ने दुकानों और आदमियों की संख्या बढ़ाने में काफी हाथ बँटाया है फिर नूरपुर को क्या आशा हो सकती है? तो भी हमें अफसोस था कि उतरकर धर्मगिरि को देख नहीं पाए। ड्राइवर ऐसा निष्ठुर था कि उसने फोटो खींचने के लिए एक मिनट को भी गाड़ी खड़ी करनी नहीं चाही।

**पठानकोट** : पहाड़ दूर हट गए, समतल ज़मीन आ गई। कितने ही आमों के बगीचे मिले। पर गर्मी के इस महीने में सारी वनस्पति भी कुम्हलाई हुई थी। दस बजे का समय आ रहा था, इसलिए गर्मी भी बढ़ चली। पठानकोट में बस के खड़े होते ही हमें डलहौजी की बस पकड़ने की फ़िकर पड़ी, जो थोड़ी ही देर बाद छूट रही थी। मुश्किल से हमने दही की लस्सी और कुछ नाश्ता लिया और बस में बैठ गए। आए हुए रास्ते के पश्चिम से हमारी बस पहाड़ों में घुसी। रास्ता अधिकतर चढ़ाई का था, जिसमें भार को खींचने में इंजन को काफी तकलीफ पड़ रही थी। वह बड़े ज़ोर-ज़ोर से साँसें भर रहा था। हमारी बस में कोई वमन करनेवाला वहादुर नहीं था। दुनेरा में दोनों तरफ की बसें आकर खड़ी हुई। थोड़ा रुककर हमें आगे बढ़ने का मौका मिला। पठानकोट से आगे यद्यपि चम्बा ज़िले की सीमा आ गई, पर अंग्रेज़ों ने चम्बा से डलहौजी और बकलोह छीनकर पंजाब में मिला लिए थे। चम्बा (हिमाचल प्रदेश) से घिरी ये दोनों बस्तियाँ आज भी पंजाब में रखी गई हैं। बनीखेत से डलहौजी पाँच मील रह जाता है। यहीं से चम्बावाली सड़क फूटती है।

**डलहौजी** : सरकारी बसों में यात्रियों को अधिक आनंद रहता है,

यह कोई भी आदमी निजी बसों और सरकारी बसों में चढ़ कर देख सकता है। हमें डलहौजी देख कर चम्बा जाना था, इसीलिए बनीखेत में न उतरकर उसी बस से हम डलहौजी चले गए। बनीखेत में ही गरमी ने पीछा छोड़ दिया था और आगे तो शस्यश्यामला पहाड़ियों से बढ़ने तथा वहाँ के वायु के स्पर्श से चित्त आह्लादित हो रहा था। हिमाचल की सभी विलासपुरियों को मैंने देखा है। मैं समझता हूँ, सौंदर्य में सबकी रानी डलहौजी है; मसूरी का नंबर दूसरा होगा। मसूरी के देहरादून से दिखाई देनेवाले पहाड़ प्रायः नंगे हैं, डलहौजी की पहाड़ियाँ चारों ओर से हरितवसना हैं, और हरा रंग भी न जाने क्यों इतना निखरा-निखरा मालूम होता है। 27 अप्रैल को ग्रीष्म काल का यौवन था। उसका प्रभाव क्यों नहीं यहाँ पड़ा? हम मन-ही-मन इसकी शोभा का वर्णन करते घुम-घुमौवा कोलतार पड़ी सड़क से साढ़े छह हज़ार फुट पर अवस्थित डलहौजी की ओर बढ़ रहे थे।

आज भारत के प्रधान-सेनापति यहाँ आनेवाले थे, इसलिए सड़क पर तोरण-वंदनवार लगे हुए थे। सैनिक तरुण अपने नेता के स्वागत के लिए कहीं-कहीं हाफ-पैंट और गंजी में खड़े थे। हमें मालूम भी नहीं हुआ कि कब बस आकर अपने अड्डे पर खड़ी हो गई। भोजन नहीं कर पाए थे, इसलिए नगर-परिदर्शन से पहले हमने भोजन से निबट लेना चाहा। अड्डे के पास ही दो-तीन रसोईखाने थे। यद्यपि वहाँ अच्छी तरह बैठकर खाने के लिए स्थान नहीं था और वस्तुतः वह सैलानी मध्यमवर्ग के लिए थे भी नहीं; किंतु हमें तो खाना अच्छा चाहिए था। सामान वहीं रखकर हमने खाना खाया और फिर नगरी की ओर चल पड़े। बस के लौटने में चार घंटे की देर थी, इसलिए हमारे पास समय काफी था। हम तीन घंटे तक डलहौजी की सड़कों पर घूमते रहे। डलहौजी वैसे छोटा स्थान है। एक जगह दो-चार दुकानें, दूसरी जगह साठ-सत्तर और तीसरी जगह बड़े डाकखाने के पास एक दर्जन दुकानें होंगी। दुकानें उदास और दुकानदारों के चेहरे मुरझाए हुए, जिससे मालूम होता था कि पिछले चार सालों में डलहौजी की हालत दूसरी विलासपुरियों से कहीं अधिक बुरी हुई है। हो सकता है, इसका कारण यह भी हो कि अभी सैलानियों का सीज़न शुरू नहीं हुआ था। चेरिंग क्रास के आगे बढ़कर हम बाज़ार में घुसे। यही यहाँ का सबसे बड़ा बाज़ार है, जिसकी अंत की आधी दुकानें 1947 के बाद नहीं खुलीं और न उनके खुलने की आशा है।

एक प्रौढ़ पुरुष बड़ी हसरत-भरी निगाह से देखते करुण स्वर में कह रहे थे : "पहले ये अच्छी दुकानें थीं, हिन्दू-मुस्लिम कितनी ही तरह की चीज़ें

बेचते, इसे गुंजान किए हुए थे। मुसलमान सबकुछ छोड़कर चले गए।" पुरुष का विश्वास था कि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ न पड़े होते और मुसलमानों को अपना घर-बार छोड़ कर जाना नहीं पड़ा होता, तो डलहौजी भी लुप्त नहीं हुई होती। इसमें शक नहीं, यदि पाकिस्तान न बना होता तो पंजाब की राजधानी लाहौर के सन्निकट होने के कारण डलहौजी में सैलानियों की कमी न होती। पर अंग्रेज़ों के चले जाने तथा मध्यमवर्ग की स्थिति के शोचनीय होने का प्रभाव डलहौजी पर न पड़ता, यह मानने लायक बात नहीं है।

डलहौजी में अब न कोई मुसलमान दुकानदार दीख पड़ता है और न बैरा-खानसामा। इसी बाज़ार के एक छोर पर आर्यसमाज, सनातन धर्म के मंदिर और सिक्ख गुरुद्वारा हैं, उनसे थोड़ी दूर हट कर एक मस्जिद–सभी अपनी किस्मत को रो रहे हैं। बाज़ार के भीतर छतों के टिनों के ढहने, काँच की खिड़कियों के टूटे रहने से यह साफ मालूम होता था कि सीज़न में भी इनमें चिराग-बत्ती नहीं होती होगी। सड़क पर एक बूढ़ा जमादार मिला। कह रहा था : "क्या पूछते हैं, डलहौजी की शोभा तो साहेब लोगों के साथ चली गई।" उसका कहना अधिक ठीक था, क्योंकि साहेब लोगों की तरह मुक्तहस्त हो खर्च करनेवाले दूसरे नहीं हो सकते थे। बड़े डाकखाने के पास मिला पुरुष अधिक आशावान् था। वह कह रहा था, "अगले महीने (मई) के अंत में सैलानी लोग बहुत आएँगे, तब यहाँ चहल-पहल होगी।" लेकिन हम दूसरी विलासपुरियों के तजुर्बे से जानते हैं, सैलानियों की संख्या अधिक होने पर भी दूर-दूर के रमणीय स्थानों पर बने बंगले कभी आबाद नहीं हो सकेंगे। डलहौजी वायसराय डलहौजी के नाम पर बसाई गई अंग्रेज़ों की असैनिक बस्ती थी, जिसे यहाँ और बकलोह में गोरों और गोरखों की छावनियाँ बना दिया गया। बैरकें अब भी आबाद हैं।

नगरी के अधिक वन और कम घर वाली सड़कों पर घूमते हम सोच रहे थे, इतनी सुंदर बस्ती को उजाड़ नहीं होना चाहिए। अमृतसर और जलंधरवालों के लिए तो यह बहुत नज़दीक पड़ती है, क्यों नहीं वहाँ के लोग गर्मियों में यहाँ आते ? अमृतसर लाहौर के बाद पंजाब का दूसरा सबसे अधिक समृद्ध नगर था, व्यापारियों की तो वही राजधानी थी, फिर वहाँ वाले डलहौजी छोड़ क्यों मसूरी या शिमला जाना पसंद करते हैं ? जलंधर भी अच्छा-बड़ा शहर है। पाकिस्तान की सीमा के पास रहने के कारण अमृतसर की जनसंख्या और समृद्धि के बढ़ने की कोई आशा नहीं, लेकिन वही बात

जलंधर के बारे में नहीं कही जा सकती। वह इधर बहुत बढ़ा है और यदि औंधी खोपड़ियों ने पंजाबी भाषा के क्षेत्र से अलग चंडीगढ़ में मुहम्मद तुगलक द्वारा दौलताबाद को राजधानी बनाने जैसा दुस्साहस न किया होता तो राजधानी के लिए जलंधर से अधिक उपयुक्त स्थान और नहीं हो सकता था और वह दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ जाता।

लेकिन, समझावे कौन ? *'अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यो विशेषज्ञः। ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं जनं न रंजयति।'* (अज्ञानी आदमी अच्छी तरह से समझाया जा सकता है। विशेष जानकार और भी आसानी से, पर ज्ञान की कणिका मात्र से अपने को विदग्ध समझनेवाले आदमी को ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता)। चंडीगढ़ को सरकारी पैसों के बल पर राजधानी बनाया जा रहा है। व्यापारियों का उसके भविष्य पर विश्वास नहीं है। तभी वह वहाँ, अपनी कोठियाँ-कारखाने खोलने के लिए आगे नहीं बढ़ रहे हैं। जिस समय पंजाबी भाषा-भाषियों का अपना प्रदेश बन जाएगा, उस समय पराई भाषा के क्षेत्र में अपनी राजधानी बनाने के लिए कौन तैयार होगा ? अस्तु, अमृतसर और जलंधर के नागरिकों से डलहौजी को आशा हो सकती थी, पर लोग ग्रीष्मपुरियों में सिर्फ गरमी से बचने के लिए ही नहीं जाते, बल्कि वहाँ उन्हें अपने मित्रों और सम्बंधियों से मिलने का अवसर भी मिलता है। पश्चिमी पाकिस्तान के बहुत-से उनके सम्बंधी अब दिल्ली के आसपास चले गए हैं, जो सामर्थ्य होने पर गरमियाँ बिताने मसूरी आते हैं; इसलिए अमृतसर और जलंधर के बहुत-से नागरिकों को भी वहाँ आना पड़ता है। जो भी हो, डलहौजी को अभी बहुत दिनों तक अच्छे दिनों की प्रतीक्षा करनी होगी।

चार बजकर 29 मिनट पर हमें लौटनेवाली बस मिली, जिससे बनीखेत चले आए। चम्बा यहाँ से बारह-तेरह मील पर है। सरकारी बस बहुत सुंदर थी, और वह पूरी तौर से भरी भी नहीं थी। शायद इसीलिए देर की जा रही थी। ऑफिस के कोई तरुण जब बस को चला कर कुछ पीछे की ओर चले गए, तो हमने समझा था, यही ड्राइवर होंगे। पर, नहीं। इस पतले संकरे रास्ते पर सवारियों को बैठाकर वह मोटर चलाना सीख रहे थे। बचपन में सुन रखा था—नाई का लड़का अहीर के सिर पर बाल बनाना सीखता है। शायद कट-कुट जाने पर अहीर उसकी परवाह नहीं करता। पर यहाँ अहीर के सिर की तरह थोड़ी-सी कट-कुट से ही छुट्टी नहीं मिलती। यदि बस-चालक हैंडल पकड़ने में गफलत कर देता ? यह रहस्य हमें पीछे मालूम हुआ, जब ड्राइवर बस को चम्बा की ओर ले चला। बनीखेत अच्छा-खासा बाज़ार है। यहाँ

बहुत-सी दुकानें हैं–सैलानी यहाँ नहीं, डलहौजी में जाकर ठहरते हैं। इसीलिए यहाँ भव्य इमारतों की आवश्यकता नहीं है।

ड्राइवर अपने काम में बड़ा कुशल था, यह चम्बा तक चल कर हमने देख लिया। पर उसने अपने बगल की सीट पर एक की जगह दो आदमियों को बैठा लिया था; जो उससे बड़ी तन्मयता के साथ बातचीत कर रहे थे। यदि मैदानी भूमि में भी कोई ड्राइवर को इस तरह बातचीत करते देखता, तो मन में आशंका उठे बिना नहीं रहती। पर, यहाँ तो बस के ढाँकने की जगह से अधिक मुश्किल से एक फुट स्थान था। बनीखेत से कुछ ही मील चलने के बाद सारा रास्ता उतराई का था। यदि बस ज़रा भी बगल को सरकती, तो किसी की हड्डियों का भी पता न लगता। उससे भी असह्य बात उसके कंडक्टर ने कर रखी थी–उसने हमारे खाने में ले आकर मोबिल आयल का कनस्तर रख दिया था, जिसके कारण पास बैठे आदमियों के कपड़े सन रहे थे। जब कंडक्टर साहब ने कनस्तर हटाना अपनी शान के खिलाफ समझा तो मैंने शिकायती किताब माँगी। उसने ड्राइवर से कहा, ड्राइवर ने कहा, "हमारे पास शिकायती किताब नहीं है।" मैंने बस के भीतर लिखी हुई पाँती को दिखलाकर कहा कि इसमें शिकायती पुस्तक के कंडक्टर के पास रहने की बात लिखी हुई है। साफ जवाब था–"हमें शिकायती किताब नहीं मिली है।" फिर न जाने क्या जानकर वह कुछ नम्र हुआ और जब कंडक्टर को मालूम हुआ, तो उसने उसे फटकार कर कनस्तर को हटवा दिया, पर उसके दोस्त बराबर बगल की सीट पर डटे बातचीत करते रहे।

बस बिल्कुल नई थी, जिसके आधे भाग में साग-सब्जी से भरी नौ मन की पेटियाँ भर दी गई थीं। ऐसी लदाई से गाड़ियों का खराब होना बिल्कुल निश्चित था। चम्बा चौदह मील रह गया, जबकि दोनों ओर की बसों के मिलने के स्थान पर पुलिस ने बस को रोक दिया, और पूरा समय होने पर हमारी बस आगे बढ़ी। कुछ ही दूर जाने पर अँधेरा हो गया और साढ़े आठ बजे चम्बा पहुँचने तक हम उतराई में चलते रहे। बनीखेत से चम्बा की सड़क सबसे संकीर्ण, टेढ़ी-मेढ़ी और संकटापन्न है। समझ में नहीं आता कि ऐसी सड़क पर रात के वक्त बस ले जाने की क्यों इजाज़त दी जाती है, जहाँ कि दस ही कदम पर हर मुड़ाव के आने से आगे की कोई चीज़ देखी नहीं जाती। ड्राइवर में दोष चाहे जो भी हो–दोष भी नहीं कह सकता, क्योंकि मित्रों-परिचितों के साथ रूखा बर्ताव करके बात करने से इनकार नहीं किया जा सकता। यह उन अक्ल के अन्धों को स्वयं समझना चाहिए था। यदि नहीं

समझते तो कानून किस मर्ज़ की दवा है ? जो भी हो, मैं कहूँगा कि 27 अप्रैल की शाम को चम्बा जानेवाली बस का ड्राइवर बहुत कुशल चालक था।

चढ़ाई उतरकर रावी के सैकत में कितने मीलों तक सड़क गई है। दिन होता तो उत्तरापथ की पाँच महान् नदियों में से एक, इस रावी और उसकी उपत्यका को देखने का अवसर मिलता। चुंगी के लिए थोड़ी देर ठहरकर मोटर के अड्डे पर जा बस खड़ी हुई। चम्बा में राहुल सांकृत्यायन के परिचितों की कमी नहीं थी। पंजाब की तरह यहाँ हिन्दी पहले से भी उपेक्षित नहीं थी, इसलिए मेरी पुस्तकों के कितने ही पाठक थे। लेकिन उस समय तो मैं अपरिचित स्थान में आया था। यह मालूम था कि यहाँ के डिप्टी कमिश्नर नेगी ठाकुरसेन मेरे परिचित हैं, पर बिना पहले से सूचना दिये उनके यहाँ जाना मुझे पसंद नहीं था। रात के समय किसी के यहाँ भी बिना पहले सूचना किये जाकर मेहमान बनना मैं ठीक नहीं मानता। पर चारा नहीं था। स्पीकर साहब पं. जयवन्त जी का मकान यहीं पर था और जब एक सहयात्री ने उनके घर तक पहुँचा देने की बात कही तो हमने वहीं जाने का निश्चय किया। वहाँ उनके भानजे श्रीनिवासजी मौजूद थे, जिन्होंने एक अच्छे कमरे में ठहरा दिया।

**चम्बा :** 28 अप्रैल का सवेरा हुआ। सबसे पहले हमें डाक की चिन्ता हुई। डाकखाने में तीन चिट्ठियाँ मिलीं। मैंने अपनी यात्रा में आधे दर्जन से ऊपर चिट्ठियाँ मसूरी लिखी थीं, पर उनमें से एक भी न मिलने के कारण कमला का धैर्य टूट गया और उसने पत्र में खूब कड़वी-मीठी शिकायत की। मसूरी और देहरादून छोड़ते समय बच्ची जया को बड़ी बुरी तरह से दस्त आ रहे थे। यह पढ़ कर बहुत संतोष हुआ कि अब वह ठीक हो गई है।

चिट्ठियों से निबटकर सबसे पहले डिप्टी कमिश्नर साहब से मिलना था, क्योंकि चम्बा ज़िला-सम्बंधी सामग्री के बहुत-से भाग उन्हीं की सहायता से मिलने वाले थे। नेगी साहब किन्नौर के वासी हैं। किन्नर देश की यात्रा में उनसे मेरी मुलाकात ही नहीं हुई थी, बल्कि काफी हद तक घनिष्ठता भी। किन्नर जैसे पिछड़े देश में बहुत कम ही ग्रेजुएट मिलते हैं। नेगी साहब सुशिक्षित ही नहीं, बल्कि सुसंस्कृत, साहसी और आदर्शवादी पुरुष हैं। यद्यपि उन्हें अब तरुण नहीं कहा जा सकता, लेकिन शरीर और मन दोनों उनके तरुण हैं। पहाड़ के दुर्गम और दुरारोह स्थानों में वह हिरन की तरह से चढ़ सकते हैं। लोकहित और लोकसेवा का ध्यान भी इसका कारण हुआ, जो उन्होंने ब्याह नहीं किया। यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उन्हें अपनी

क्षमता और भावना को कार्य रूप में परिणत करने का यहाँ अवसर मिला है। मिलने पर उनका आग्रह हुआ कि मैं उनके यहाँ चला आऊँ। मैंने कह दिया भरमौर से लौट कर आपके यहाँ ठहरूँगा। पंडित जयवन्तराम जी के यहाँ ठहरने की बात सुन कर उन्होंने आग्रह छोड़ दिया। मैंने अपेक्षित सामग्री की एक सूची दे दी। पंडित जयवन्तराम जी अपनी चिट्ठी में भी उन्हें उनके बारे में लिख चुके थे।

डिप्टी कमिश्नर का बंगला चम्बा के अंग्रेज़ सर्वे-सर्वा के लिए बना था। यद्यपि वह शहर से नातिदूर सटा हुआ था, पर वहाँ से रावी का दृश्य बहुत सुन्दर तथा उसकी शीतल हवा बड़ी सुलभ थी। डाकखाना, अस्पताल, म्यूज़ियम जिस चौगान के किनारे अवस्थित हैं, वह डी.सी. के बंगले के समीप है। चौगान के किनारे शरणार्थियों के लिए बहुत-सी दुकानों की कोठरियाँ बना दी गई हैं। उजड़ा पंजाब चम्बा की श्रीवृद्धि में हाथ बंटा रहा है, यह भी यहाँ देखा जा सकता था।

'चम्बा' प्रदेश का पहले क्या नाम था, यह कहना मुश्किल है। चम्बा नाम तो नवीं-दसवीं सदी में चम्बा के राजधानी बनने पर पड़ा। राजधानी बनने के समय के मंदिरों में लक्ष्मीनारायण मंदिर समूह सबसे पहले आता है। हम पहले उसी को देखने चले। पुराना मंदिर होने से यह पुराने राजप्रासाद के करीब रहा होगा। पर पिछले हज़ार वर्षों में प्रासाद अनेक बने हैं। सबसे पिछला प्रासाद मंदिर के करीब है। एक ही आँगन में तीन पुराने मंदिर हैं, जिनमें प्रमुख लक्ष्मीनारायण का है। लेकिन इसमें संदेह है कि पहले भी यहाँ विष्णु की प्रधानता रही होगी। हिमाचल के और कितने ही मंदिरों की तरह यहाँ भी पुरानी मूर्तियों का अभाव है। 3000 फुट की ऊँचाई पर बसी इस नगरी में मूर्तिभंजकों का पहुँचना आसान था, इसलिए लूट के लिए वे अनेक बार यहाँ आए होंगे और पहाड़ में खंडित मूर्तियों के दर्शन से पाप होता है, इस विश्वास को कार्य रूप में परिणत करने की प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। फिर टूटी-फूटी मूर्तियों को सुलभ होना कैसे हो सकता है। तो भी मंदिर की दीवारों में चिनी खंडित मूर्तियों को निकाल फेंकना आसान नहीं था, इसलिये वे जहाँ-तहाँ दीख पड़ती हैं। प्राचीन मूर्तियाँ अधिक सुंदर हैं। ये उस समय की मूर्तिकला के उत्कर्ष का प्रमाण रहीं। ऐसी एक पुरुष मूर्ति के दाहिने हाथ में पद्म था। क्या यह पद्मपाणि अवलोकितेश्वर की बौद्ध मूर्ति है ? पर चम्बा में दूसरी कोई बौद्ध मूर्ति के न मिलने पर इसे अवलोकितेश्वर का कैसे माना जा सकता है ? यहाँ के शिखरदार मंदिर उसी तरह काष्ठ की छतरी

से ढंके हैं, जैसे गढ़वाल में केदारनाथ और दूसरे मंदिर। जहाँ तापमान हिमबिंदु से नीचे चला जाता है, वहाँ काठ की छत के कारण शायद कुछ सुरक्षा होती हो, इसीलिए ऐसी छतरियों का रिवाज़ पहाड़ में चल पड़ा। यहाँ के चन्द्रगुप्त और त्र्यम्बकेश्वर के मंदिर शिव के हैं, और पहले लकुलीश पाशुपत इनके अर्चक रहे होंगे। शायद उन्हीं के काल का अवशेष है, नन्दी की पूँछ पकड़े एक पुरुष का लटके रहना।

नगर से बाहर जालपादेवी के मंदिर की बात सुन हम वहाँ गये। उसमें बाहर 12वीं सदी की कुछ मूर्तियाँ दिखाई पड़ीं, जो चम्पानगरी के लिए कोई असंभव नहीं थीं। जाड़ों में चाहे बर्फ़ पड़ जाती हो, पर इस समय मध्याह्न में तो ब्रह्मांड फूट रहा था। इसलिए हम भोजन करने के लिए अपने स्थान पर लौट आए। कुछ विश्राम के बाद फिर निकले। पहले चम्पेश्वरी मंदिर को देखने गए। नगर की अधिष्ठात्री देवी नगर के भीतर ही रहती है। परम्परा बतलाती है कि पिता ने अपनी प्रिय पुत्री के नाम पर उसी की इच्छा के अनुसार ब्रह्मपुर से हटाकर अपनी राजधानी यहाँ बसाई। परन्तु संतभक्ति-परायण पुत्री पर पिता के संदेह करने पर वह यहीं अन्तर्धान हो गई और उसकी स्मृति में यह मंदिर बना। पास की टेकरी पर उस दिन चामुंडा का मेला था। देवी की बहिन बैरेवाली देवी मेहमानी में आई थी, जिसके उपलक्ष्य में बहिन ने यह मेला रचाया था। काफी ऊँचाई चढ़नी थी, इसलिए हमने ऊपर जाने का ख़याल छोड़ दिया और चढ़ाई की जड़ तक ही जा सके। मेले में जानेवाली अधिकाँश स्त्रियाँ थीं। उनके देखने से मालूम होता था कि चम्पा की नागरियाँ रूप-रंग आगरियाँ हैं। कुछ ने सलवार-ओढ़नी लगा रखी थी, और काफी संख्या पसवाज पहनने वालियों की भी थी। पसवाज वही मुगल कालीन बेगमों की पेशवाज है, जिसे अब हमारे यहाँ नर्तकियाँ ही पहनती हैं। पहाड़ में इतने भीतर कैसे महिलाओं ने इस पोशाक को स्वीकार कर लिया? राजस्थान की अन्तःपुरिकाएँ पिछली शताब्दी तक इसे पहनती थीं, इसमें संदेह नहीं, पर वहाँ के राजा तो मुगल-दरबार के सम्मानित सामंत और भक्त-चाकर थे। इसके देखने से यह साफ मालूम होता है, कि जिसकी तपी रहती है, उसका अनुकरण करना लोग आवश्यक समझते हैं, जैसे कि आज भी अंग्रेज़ों का अनुकरण हो रहा है। पर साड़ी पर मेमों का स्कर्ट तो कभी विजय प्राप्त नहीं कर सका, और मुगलों की देन यह पसवाज अब साड़ी के लिए स्थान खाली कर रही है। पसवाज के देख लेने पर चम्बा कलम में चित्रित यहाँ की पुरानी पोशाक को समझने में दिक्कत नहीं हो सकती।

राजा भूरिसिंह की अनेक कृतियों में यहाँ का भूरिसिंह म्यूज़ियम भी है, जिसमें कितने ही दुर्लभ चित्र, मूर्तियाँ और ताम्रलेख-शिलालेख रखे हुए हैं। हिमाचल सरकार को इसकी ओर जितना ध्यान देना चाहिए था, उतना नहीं दिया गया, यह खेद की बात है। शताब्दी के आरम्भ से यहाँ पुरातत्त्व-इतिहास आदि-सम्बंधी कितनी ही पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें आया करती थीं, पर उनमें से बहुत कम बच पाई हैं। रियासती काल में जो हुआ, सो तो हुआ ही, अभी एक ही दो साल पहले कोई सज्जन एक ऐसी ही पुस्तक लेकर गए और लौटाने का नाम नहीं लिया। सचमुच ऐसे लोग संस्कृति और समाज के शत्रु हैं, जो कि दूसरों को उनके उपयोग से वंचित रखना चाहते हैं। म्यूज़ियम की पुस्तकों का उपयोग हरेक को करने का अधिकार है, पर उनकी सुरक्षा के साथ। यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब उतनी ढिलाई नहीं है। मुझे भी देखने के लिए पुस्तकें तब तक नहीं मिलीं, जब तक कि डी.सी. साहब की सिफारिश नहीं आई।

29 अप्रैल का दिन भी हमें चम्बा में ही बिताना था। सारा समय पढ़ने तथा कुछ परिदर्शन में लगा। चौगान के एक सिरे से हम गुज़र रहे थे तो सशस्त्र पहरेदार पुलिस ने उधर के सार्वजनिक रास्ते से जाने से रोका। हमने सोचा, शायद राजा साहब आए हों, पर वह तो डलहौजी में थे। मालूम हुआ, हिमाचल प्रदेश के न्यायाधीश आकर यहाँ विराजमान हैं। बंगले से दूर अवस्थित फाटक के बाहर जानेवाले रास्ते से भी आदमी चलने न पाया।

**बस गिरी :** अब की यात्रा में हमने दो-चार मील से अधिक पैदल न चलने का निश्चय किया था, इसका कारण समय की कमी था। पर गद्दी लोगों के प्रदेश में चम्बा की सबसे पुरानी राजधानी ब्रह्मपुर–ब्रह्मौर, भरमौर को देखने की इच्छा को संवरण नहीं कर सके। चम्बा से 12 मील तक हाल ही में बस चलने लगी है। उसके आगे 26 मील पैदल जाना था। नेगी साहब ने दो घोड़ों का इन्तज़ाम कर दिया था और वह 29 अप्रैल को राख के लिए रवाना हो गए थे। हल्ला कर दिया था कि साढ़े पाँच बजे सवेरे ही बस जाती है, इसलिए हम उसी समय अड्डे पर पहुँच गए। पर बस सवा छह बजे रवाना हुई। सड़क का तल यद्यपि ठीक किया गया है, लेकिन अभी वह नई है। बस इतमीनान से चली जा रही थी। मैं ड्राइवर की बगल में बैठा था। शोभाकान्त जी मेरी पिछली सीट के बायें कोने पर और दायें कोने पर विद्याधर जी एम. एल.ए.। पीछे की सीटों में कितने ही नर-नारी भरे हुए थे।

ड्राइवर की बगल में बैठे होने से मैं सामने की चीज़ों को देख सकता

था। रावी हमारे दाहिने से बह रही थी, यद्यपि नज़दीक नहीं थी। पाँच मील से कुछ ऊपर गए थे, वहाँ सड़क ऐसी जगह थी, जिसके बायें किनारे कुछ हटकर पहाड़ खड़ा था, और दाहिने तीखी ढलान 10-15 गज़ आगे-पीछे थी। एकाएक मैंने देखा, हमारी बस दाहिनी ओर को खिसक रही है। उस वक्त वह बहुत धीरे-धीरे जा रही थी, इसलिए खिसकना ही कहना चाहिए। अभी दिमाग ने कुछ और सोचने का अवसर नहीं पाया था कि मैंने देखा, बस करवट गिर कर रुक गई। यह सब इतनी जल्दी-जल्दी हुआ, कि मैं कुछ नहीं सोच सका। ड्राइवर और मेरी सीट दो अलग गद्दीदार कुर्सियों जैसी थीं, जिनकी पीठ हिलने-डोलने लगी थी। ड्राइवर कुर्सी के नीचे गुमसुम पड़ा हुआ था। चाहे वह कुछ ही मिनट पड़ा रहा हो, लेकिन मुझे मालूम हुआ युग बीत गए। बायें से निकलनेवाला रास्ता अब हमारे सिर पर था, और वह जम भी गया था। इसलिए उधर से निकला नहीं जा सकता था। ड्राइवर की तरफ का रास्ता ज़मीन से सट गया था।

मालूम हो गया, बस उलट गई। आगे की सीटवाले हम दोनों को कोई चोट नहीं आई थी। बाद में खून देख कर मालूम हुआ कि मेरा बायाँ पैर ज़रा-सा छिल गया है। पीछेवालों की कोई चिल्लाहट न होने से निश्चित था कि किसी को कोई चोट नहीं लगी है। मैंने ड्राइवर से कहा, "लेटे क्या हो, बाहर निकलो।" पीछेवालों के मन से भी अचानक लगे धक्के का प्रभाव दूर हो गया और वे बस पीछे के दरवाज़े से बाहर निकलने लगे। विद्याधर जी का एक पैर ड्राइवर की सीट के नीचे दब गया था। ड्राइवर की तरह वह भी चुपचाप पड़े रहते तो शायद हड्डी टूटने का डर था। इसलिए उन्होंने 'सर्वनाशे समुत्पन्ने, अर्धं त्यजंति पंडिताः' की नीति का अनुसरण करते कोई परवाह न कर अपने पैर को ज़ोर से खींच लिया। लेकिन उनको आसानी से छुटकारा मिलनेवाला नहीं था। सब के लुढ़कने पर शोभाकान्त जी उनके ऊपर आ पड़े थे, और शोभाकान्त जी के ऊपर पीछे के चार-पाँच आदमी थे। मुझे सब चीज़ें साफ दिखाई पड़ रही थीं। हमारी पिछली सीट में एक के ऊपर एक पड़े दर्जन आदमियों को वह नहीं दिखाई पड़ता था। वे सचमुच खतरे से भरे घोर अंधकार में थे। उनकी न आँखें काम कर रहीं थीं, न दिमाग। उनमें से कितने ही, विशेषकर विद्याधर जी तो यही समझ रहे थे कि अब प्रलय आ गई है। मृत्यु से भाग निकलने का कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ रहा था। लेकिन जब उन्होंने कहीं भी शरीर से पीड़ा न उठते देख अपने को अक्षत शरीर देखा और केवल ऊपर पड़े लोगों का पाँच-सात मन का बोझ ही भारी

लग रहा था तो जान में जान आई। लोग पिछली खिड़की से बाहर निकलने लगे। एक स्त्री काफी बीमार थी, लेकिन वह भी टनमन हो बाहर खड़ी हो गई थी।

ड्राइवर सहित हम लोगों ने बाहर आकर देखा, बस मानो जान-बूझकर एक समतल-सी जगह पर करवट लेट गई थी। यदि बस 10-15 हाथ आगे या पीछे उल्टी होती तो इसमें शक था कि बसारोहियों में से कोई भी दुनिया देखने के लिए बचा रहता। एक अगले पहिये की कमानी टूटकर ब्रेकवाले पुरजे में घुस गई थी जिसके कारण पहिये घुमानेवाला पुरजा काम नहीं कर रहा था। मैंने देखा, ड्राइवर बड़ी जल्दी-जल्दी पहिये को घुमा रहा है, लेकिन बस दाहिनी ओर सरकने से रुक नहीं रही है। उस वक्त गति नाममात्र की थी और ड्राइवर ने होशियारी करके इंजन को बन्द कर दिया था। ऐसी दुर्घटनाओं में खुले इंजन के कारण पैट्रोल में आग लगने की संभावना रहती है, जिसके कारण मुसाफिरों की जान संकट में पड़ जाती है। सब यात्री हृदय से भगवान को अनेक धन्यवाद दे रहे थे। विद्याधर जी कभी नास्तिक तो नहीं थे, लेकिन इस वक्त तो मालूम होता था, ध्रुव की तरह उन्होंने भगवान का साक्षात् दर्शन पा लिया है। वह भगवान की महिमा गाते नहीं थकते थे। शोभाकान्त के बारे में नहीं कह सकता। लेकिन मेरी नास्तिकता इतनी उथली नहीं थी, कि इतनी-सी दुर्घटना क्या मरके जीने पर भी भगवान की महिमा गाने लगता। हाँ, इसको मैं भी मानता था कि हमारे प्राण बुरी तरह फँसे थे।

सब लोगों को बाहर अक्षत शरीर देख कर अब वहाँ करने को कुछ नहीं रह गया था। जो असबाब और सामान लेकर बस पर सवार हुए थे, वह सामान छोड़ कर आगे नहीं बढ़ सकते थे। बस से कोई उम्मीद नहीं थी और इस सड़क पर सिर्फ एक बस दिन में एक बार सवेरे जाती और बहुत देर बाद लौटती थी।

इसलिए जब तक चम्बा खबर न जाए, तब तक दूसरी बस के आने की आशा नहीं थी। हम लोगों के पास कोई सामान नहीं था और न विद्याधर जी के पास ही। लेटी हुई बस के पास अब हमारे खड़े रहने का कोई काम नहीं था। इसी समय ख़याल आया कि राख में साईस घोड़े लिए हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम तीनों अब अगले साढ़े छह मील के रास्ते को पैर से नापने लगे। विद्याधर जी की बात न पूछिए, मानो नैमिषारण्य के परम भक्त ऋषियों में सूतजी महाराज स्वयं ही चले आए हों। दो घंटे की यात्रा हमारी

पैदल यात्रा रही और इसमें उनका बहुत-सा समय भगवान के गुणानुवाद में बीता। मैं अपने को ऐसी परिस्थिति में नहीं पाता था कि वहाँ आस्तिकवाद का खंडन करने लगूँ। हाँ, स्वाद बदलने के लिए इधर-उधर की बातें करता चला। पैर हमारे असाधारण तेज़ी से आगे बढ़ रहे थे। यह भी सोचने का दिल नहीं करता था कि यदि दुर्घटना अपने लक्ष्य में सफल हुई होती तो क्या होता?

**पैदल यात्रा :** राख में डाकबंगला और आधा दर्जन दुकानें हैं। हमारे साईस तैयार थे। लेकिन अब तो भरमौर तक के लिए हम अपने या घोड़ों के पैरों के ऊपर निर्भर करते थे। थोड़ी देर ऐसे ही बैठ गए। देर नहीं लगी कि चम्बा से एक पुलिस-अफसर तथा रोडवेज़ के अधिकारी दूसरी बस पर आ पहुँचे। मालूम होता है, ड्राइवर ने कंडक्टर को तुरन्त दौड़ाया था और जल्दी ही वे लोग चल पड़े थे। सरकारी बस-सर्विस का यह भी एक फायदा दिखाई पड़ा। यदि प्राइवेट बस होती तो वह इतना जल्दी इन्तज़ाम नहीं कर सकता था। हाँ, एक बात की हमें कमी दिखाई पड़ी, सड़क बनाने पर जहाँ लाखों रुपए खर्च किए गए, वहाँ टेलीफोन के तार लगवा देने में कौन-सा बहुत पैसा लगता ? हिमाचल सरकार को चाहिए कि जहाँ तक मोटर सड़क जाए, वहाँ तक टेलीफोन का तार भी खिंच जाए, ताकि दुर्घटना की खबर तुरन्त मिल सके। पुलिस-अफसर ने अपना काम शुरू किया। विद्याधर जी ने अपना बयान दिया। फिर शोभाकान्त ने भी। वह सबकुछ उर्दू में लिख रहा था, जिससे पता लग रहा था कि अभी भी हिमाचल सरकार हिन्दी को अपनाने में असमर्थ साबित हुई है। वस्तुतः बिना भय के पुरानी आदत नहीं छूट सकती। यदि इन्हीं अफसरों को डर होता कि हिन्दी वर्णमाला न सीखने पर हमारी तरक्की रुक जाएगी या नीचे के पद पर उतार दिए जाएँगे तो वे कब के हिन्दी में काम-काज करने लगे होते। मुझसे जब बयान देने के लिए कहा तो मैंने देखी हुई सारी बातों को हिन्दी में लिखकर हस्ताक्षर करके दे दिया। विद्याधर जी पछता रहे थे कि मैंने भी ऐसा क्यों नहीं किया। रोडवेज़ अफसर ने बड़ा अफसोस प्रकट किया, लेकिन इसमें कसूर तो किसी का नहीं था।

हम राख से चल देना चाहते थे, लेकिन सलाह हुई, कुछ भोजन करके चला जाए। एक ऐसा वैसा-ही होटल या रसोईखाना भी था, जो साधारण खाना पकाकर खिला देता था। उसके पास न चावल था और न गेहूँ का आटा। किसी तरह और जगह इन्तज़ाम करने पर लाला बक्खूचन्द–राख के सबसे बड़े दुकानदार–को पता लग गया और उन्होंने आतिथ्य करने का

भार आग्रहपूर्वक अपने ऊपर ले लिया। लाला बक्खूचन्द पुराने युग के प्रेमी जीव हैं, जो भोजन-पान से अतिथि सेवा करना बड़ा धर्म मानते हैं। बहुत मीठी दाल और घी से चुपड़े हुए गरम-गरम फुलके खाने को मिले। वह अमृत से किसी प्रकार भी कम स्वादिष्ट नहीं थे। विद्याधर जी को तीन मील आगे चूंड़ी में जाना था। वह अपने लिए नया घर बनवा रहे थे, जिसकी छत को छाने के लिए अच्छी स्लेटें इधर की ही खानों में मिलती हैं। वह तो आगे बढ़ गए, पर हम दोनों आराम से चले।

डेढ़-दो मील आगे चलने पर एक झूलापुल से रावी को पार कर हम उसके बायें तट पर आ गए। 'कमखर्च बाला नशीन' ऐसे पुल इधर अक्सर देखने में आते हैं। एक-डेढ़ इंच मोटे बटे हुए लोहे के तार नदी के दोनों किनारों पर पत्थर के नीचे दबा दिए जाते हैं, और उनसे लटकते हुए छोटे तारों में हल्के तख्ते जमा दिए जाते हैं। ये पुल इतने मजबूत होते हैं कि इन पर घोड़े पार हो सकते हैं, आदमियों और भेड़-बकरियों की तो बात ही क्या। लेकिन ये झूले हिलते बहुत हैं, इन पर पहाड़ी टाँगन ही पार होने की हिम्मत कर सकते हैं। हवा चले तो यह और भी हिलने लगते हैं, यदि ज़ोर की हवा लगे तो उलट भी जाते हैं। किसी भी मैदानी आदमी को ऐसे झूले से नदी पार करने की इच्छा नहीं होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अगले पड़ाव (चूंड़ी) में विद्याधर जी वहाँ के दुकानदार से स्लेट के बारे में बातचीत करते मिले। शायद उन्होंने चर्चा कर दी थी, इसलिए हमारे पहुँचते ही लाला जी ने असाधारण तौर से स्वागत किया।

पुल पार ही हम कुछ दूर तक घोड़े पर चढ़े थे, इधर पैदल आगे बढ़े। यद्यपि हम ऊपर की ओर जा रहे थे, पर रास्ता समतल-सी जगह पर था। जगह-जगह ऊपर जाते गद्दी नर-नारी मिल रहे थे। उनमें से कुछ भेड़-बकरियों या गाय-बैलों को हाँके जा रहे थे, और कुछ अपने सामान को पीठ पर लादे, कभी-कभी छोटे बच्चे को भी उस पर बैठाए हुए थे। ब्रह्मपुर (भरमौर, ब्रह्मौर) इलाके का नाम 'गदेरन' भी है। वहाँ की सभी जाति के निवासी गद्दी कहे जाते हैं। जब से इस अतिशीत प्रदेश में आए, तभी से जाड़ों के 5-6 महीने लोग नीचे की गरम जगहों में बिताने के लिए मजबूर हुए। भरमौर का इलाका जाड़ों में कई फुट मोटी बरफ़ से ढँक जाता है। उस समय यहाँ पशुओं के लिए चारा बहुत दुर्लभ हो जाता है और जमा किए हुए चारे पर बहुत कम पशुओं को ही पाला जा सकता है। ऐसे समय बरफ़-मुक्त गरम भूमि में जाना पशुओं और प्राणियों दोनों के लिए कल्याणप्रद है। जिनके पास

पशु नहीं हैं, वे इस समय भटियात जैसे गरम और घने बसे इलाके में जाकर मेहनत-मजूरी करते हैं। अधिकतर गोरी और सुन्दरी गद्दिनें वहाँ कूटने-पीसने का काम करती हैं। इस तरह खा-पी कर जो कुछ बचा उससे काम की चीज़ें खरीद, इस समय वे देश लौट रहे थे। गद्दिनों का लम्बा चोगा वस्तुतः ऊनी पेशवाज है। शायद इससे पहले गद्दिनें भी सारे हिमालय की सामान्य पोशाक—दोहड़ू पहना करती होंगी।

दोहड़ू छह हाथ लम्बी, तीन हाथ चौड़ी ऊनी चादर है, जिसे शरीर से लपेटकर दाहिना हाथ मुक्त रखते बायें कंधे के पास सूए से बाँध दिया जाता है। चम्बा के चुराह से कलिंपोंग के उत्तर तिब्बत के टोमो (चुम्बी) इलाके तक और आगे भी दोहड़ू का प्रचार बतलाता है कि किसी समय सारे हिमालय की यही पोशाक थी। पुरुष गद्दी काफी लम्बा ऊनी चोगा पहनते हैं, पर उसे घुटने के ऊपर समेट कर कमर में रस्सी से बाँध लेते हैं। यह रस्सी केवल बाँधने का ही काम नहीं देती, बल्कि पेट के अधिक भाग को ढाँककर वहाँ सर्दी पहुँचने नहीं देती। सर्द मुल्कों में पेट में सर्दी न पहुँचने देने का खास ध्यान रखा जाता है। गद्दी पुरुष पैरों के नंगे रहने की कोई परवाह नहीं करते, पर पेट को अंगुली-भर मोटी 40 से 80 हाथ लम्बी काली ऊनी रस्सी से बाँध रखते हैं। दूर से देखने पर रस्सी की कला का पता नहीं लगता। कई पतली रस्सियों को बट देने से ही यह तैयार नहीं हो जाती, बल्कि उसे रीठे-साबुन में भिगो कर इतना मांडा जाता है कि सारी संधियाँ ढँक जाती हैं। मालूम होता है, एक काले रंग का रबर-ट्यूब है। वह देखने में सुन्दर, चिकनी और कोमल होती है। रस्सी गद्दी नर-नारी के लिए उतनी ही अनिवार्य है, जितना ब्राह्मणों के लिए जनेऊ। रस्सी रहित होने पर परजन्म में ही गद्दी को अनिष्ट की आशंका नहीं होती, बल्कि इसी जन्म में उसे कोप-भाजन होने का डर लगता है। एक गद्दी से पूछने पर उसने बड़ी गम्भीरता से कहा : "हमारे एक-एक के पास सैंकड़ों भेड़-बकरियाँ होती हैं, जिनको इन पहाड़ों में संभाल कर रखना अपने बस की बात नहीं है। शंकरजी ने दया करके हमें वरदान दिया है कि जब तक कमर में यह काली रस्सी रहेगी, तब तक तुम्हारी भेड़-बकरियाँ नहीं बिखरेंगी।"

भला कौन-सा अभागा गद्दी होगा, जो शंकर के वरदान की अवहेलना करेगा ? रस्सी के ऊपर चुन्नट किए चोगे में गद्दी चार-चार तक बच्चे रख सकते हैं।

चूंड़ी से 7 मील आगे गेहरा मिला। यहाँ छोटी धार के वार-पार दो

जगह दुकानें हैं। अधिक पार तथा रावी के झूले के पास हैं। यहीं डाकखाना भी है। हम चम्बा से 22 मील चले आए थे, जिसमें 5 मील छोड़ बाकी अधिकतर पैदल आए थे। इसलिए गेहरा में ठहरने का अधिकार था, पर अभी थके नहीं थे और दिन भी काफी था। इसलिए 5 मील और आगे दुर्गेठी में रात बिताने का निश्चय कर आगे बढ़े। गेहरा के ऊपरवाले पहाड़ पर छतराढ़ी गाँव था, जहाँ हज़ार वर्ष पुरानी देवी की मूर्ति थी। हम उसे देखना चाहते थे, पर मालूम हुआ रास्ता टूट गया है और छिपकली जैसी चढ़ाई चढ़नेवाले ही वहाँ जाने की हिम्मत कर सकते हैं।

वहाँ के बंगले का चौकीदार गेहरा में मिल गया था। उसने छतराढ़ी के बंगले की सुंदरता और खाने-पीने के आराम का बहुत प्रलोभन दिया, पर हमारे ऊपर बहुत कम ही प्रभाव पड़ा। तो भी अभी हमने छतराढ़ी के प्रोग्राम को लौटती यात्रा से हटाया नहीं था। आखिर हमें दूसरे की पीठ पर जाना था--घोड़े कमज़ोर नहीं थे। घोड़ों को साईसों के साथ छोड़ हम पैदल ही आगे बढ़े और 6 बजे से पहले ही दुर्गेठी के डाकबंगले पर पहुँच गये। बंगला स्वच्छ, आरामदेह तथा मनोरम प्रकृति की गोद में अवस्थित है। पहले ही किसी ने बतला दिया था कि वहाँ कोई दुकान नहीं है, इसलिए हम गेहरा से ही खाने का सारा सामान लेते आए थे। चौकीदार ने चाभी वहाँ किसी को दे रखी थी, इसलिए कमरा भी खुल गया। बर्तन-भांडा भी मिल गया। सबसे अधिक चिंता चारे की थी, पर उसका प्रबंध भी चौकीदार ने आकर कर दिया। मुझे तो रात्रि-उपवास क़रना था। साईसों ने खाना बना कर शोभाकांत जी को खिलाया और अपने आप भी खाया। अब भरमौर 12 मील रह गया था।

1 मई को साढ़े पाँच बजे सवेरे ही साईसों को जल्दी आने के लिए कहकर हम आगे चल पड़े। मालूम कर लिया था कि आगे 3 मील पर खड़ामुख में दुकानें आएँगी, फिर मील-भर के करीब साधारण रास्ते पर चलने के बाद 2 मील की कड़ी चढ़ाई आएगी, जिसमें घोड़ों की सहायता प्रिय लगेगी। हम चाहते तो कल यहाँ आकर ठहर सकते थे; पर यहाँ बंगले का आराम न मिलता, यद्यपि दुकान का सुभीता था। झूला-पुल पार कर हम चढ़ाई चढ़ते रावी की धार छोड़ने लगे। चढ़ाई सचमुच कड़ी थी। हम कुछ ही चढ़े कि घोड़े आ गए और ऊपर सारी चढ़ाई चढ़कर थोड़ी देर में खणी गाँव में पहुँच गए। अभी 9 भी नहीं बजे थे। एक छोटे-से गड्ढे में मटमैला पानी था, जिससे गाँव के ढोर अपनी तृषा बुझा रहे थे। उसकी दूसरी तरफ एक छोटी-सी दुकान देख हम वहाँ चले गए। दुकानदार एक शरणार्थी भद्र

तरुण था। निश्चय हुआ, शाम की वनी रोटी को यहीं समाप्त करके चला जाए। गड्ढे को बाँधकर उसे एक अच्छे सुंदर कुंड का रूप देना बहुत खर्चीला काम नहीं है, पर फिर ढोरों के वहाँ आकर पानी पीने की समस्या आ खड़ी होगी। गाँव नातिदूर था, और गांव का स्कूल कुंड के दूसरे सिरे पर। यहाँ से सामने भरमौर की परली सीमा का प्रहरी हिमालय दिखाई पड़ता था। यद्यपि नीचे के लिए मानसून के आने में अभी डेढ़ महीने की देर थी, पर इन ऊँचाइयों में उसके आने की पहले ही संभावना होती है और उसी के अनुसार किसानों का टाइम-टेबुल वना है। लोग वर्षा से, देरी करने के लिए परेशान थे, कहीं ऐसा न हो कि उसके बिना जाड़ों के पहले का बोया जौ-गेहूँ सूख जाए।

आगे 5 मील का रास्ता हल्की चढ़ाई-उतराई का तथा ऐसा था, जिसमें घोड़े पर चढ़ा जा सकता था। भूमि सुभूमि थी। रास्ते में कुछ ऊपर हटकर देवदार के जंगल थे। एक जगह रास्ते के पास ही जंगल विभाग ने देवदार वन लगा दिए थे। बच्चे सभी के सुंदर मालूम होते हैं, पर यह देवदारशावक अपने चमकीले कोमल हरित रंग से भूमि के नहीं मालूम होते थे। आजकल खेतों की नपाई का काम चल रहा था, एकाध जगह लाल झंडियाँ गाड़े अमीनों को नपाई करते देखा। रास्ते के एक गाँव में नपाई करनेवाले कुछ बाबू अपना कागज़-पत्र रखे बैठे थे। एक गाँव के भीतर से गुज़रते ख़याल आया, यदि कहीं से छाछ मिलती; पर देखा, अभी कितने ही घर खुले भी नहीं हैं। यहाँ के लोग जाड़े के प्रवास से नहीं लौटे हैं। हम एक सूखे नाले से गुज़र रहे थे, वहाँ रास्ते से दो सौ गज़ के फ़ासले पर सफेद बरफ़ देखी। आज पहली मई और यहाँ अव भी बरफ़! आखिर हम 7000 फुट से अधिक ऊँचाई पर जा रहे थे—भरमौर गाँव 7000 फुट पर बसा हुआ है। रास्ते में लगे पत्थरों को यदा-कदा देख लेने पर हमें मालूम हो जाता था कि अब गंतव्य स्थान कितनी दूर है। प्रायः डेढ़ मील रह जाने पर ब्रह्मौर गाँव और उसका हज़ार वर्ष पुराना मन्दिर दिखाई पड़ा।

ब्रह्मौर (ब्रह्मपुर) किसी समय इस सारे हिमालय खंड की राजधानी थी। उसके पास काफी संपत्ति थी। यहाँ के भव्य मंदिर और सुंदर मूर्तियाँ बतलाती हैं कि नेपाल और दूसरे स्थानों के लोग जो अपने को म्लेच्छ आक्रमणकारियों से अजेय रहने का अभिमान करते हैं, झूठा है, यह वहाँ की नककट्टी मूर्तियाँ बतलाती हैं; पर, हिमालय का यह भूभाग (ब्रह्मपुर) निश्चय ही अपराजेय रहा। यहाँ की जैसी अब भी अपने संस्थानों में पूजी जाती पुरानी मूर्तियाँ भारत में कहीं देखने में नहीं आतीं। जिस चढ़ाई को चढ़ कर

ब्रह्मपुर की उपत्यका में हम दाखिल हुए थे, वह यहाँ की दुरारोह प्राचीर थी, जिसे आसानी से पार करनेवाले माई के लाल उस समय पैदा नहीं हुए थे। उसके बाद भी प्रायः गेहरा तक रावी ने बड़े प्रयत्न से शिला को काट कर अपना रास्ता बनाया है, जहाँ से गुज़रना शत्रु के लिए प्राणों का सौदा करना था। यहाँ के सुदूर मंदिरों और मनोरम मूर्तियों को बनानेवाले मेरुवर्मा के वंश के शासन में 1948 ई. तक रहने के बाद अब 'ब्रह्मपुर' भारत गणराज्य का अंग है। यहाँ डाकखाना, मिडिल स्कूल, पुलिसचौकी, नायब तहसीलदारी के साथ कुछ दुकानें भी हैं। पर, रोटी-कपड़े के रूप में अभी लोग उतने भी सुखी नहीं है, जितने कि मेरुवर्मा के समय रहे होंगे।

**प्राचीन ब्रह्मपुर** : एक सुंदर नातिक्षीण फेन उछालती धार को पार कर हम भरमौर में पहुँच गए। धार में इतना पानी था कि उससे पनचक्कियाँ चल रही थीं। भूमि भी यहाँ अधिक समतल-सी थी। किसी राजधानी को बसाने के लिए ऐसी भूमि की नितांत आवश्यकता होती है। घोड़ेवाले कोठी में चले गए। इधर के पहाड़ों में कोठी किसी साहूकार की दुकान को नहीं, बल्कि राजा के छोटे-मोटे कोट के लिए कहा जाता था। यहाँ की कोठी राजकीय पुरानी इमारत थी। जीर्ण हो जाने पर उसकी मुरम्मत करते समय एकाध लकड़ियों को छोड़ कोई प्राचीन चिह्न बाकी नहीं रखा गया। यह सुन कर और भी दुःख हुआ कि दीवान बहादुर माधोराम ने यहाँ के पुराने कागज़-पत्रों को जलवा दिया। यह कागज़ों की होली किसी अपराध को छिपाने के लिए नहीं की गई थी, जैसा कि सराहन (बसाहर) के कागज़ों को 1948 में जला कर किया गया था। पुराने कागज़ों के ढेर को बेकार समझ उन्हें जला देने का रिवाज़ देखा जाता है। दीवान बहादुर ने इसे उस वक्त करवाया था, जब अंग्रेज़ों का प्रताप-सूर्य मध्याह्न पर था। वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे कि भारत कभी अंग्रेज़ों के हाथ से निकल जाएगा।

इस ऊँचाई पर मौसम पर विश्वास नहीं किया जा सकता था, इसलिए साढ़े ग्यारह बजे की धूप होने पर भी मैंने उसका इस्तेमाल करना आवश्यक समझा। सबसे बड़े चौरस मैदान में यहाँ के पुराने मंदिर अवस्थित हैं। बीच में एक चबूतरे पर सबसे बड़ा शिखरदार हरिहर (मणिमहेश) का मंदिर है, जिसके पास का देवदार दस शताब्दियों को अवश्य देख चुका है। प्रांगण में मौजूद बड़े-बड़े तूत के वृक्ष बतलाते हैं कि तूत के पेड़ों से यहाँ के लोग पहले भी अपरिचित नहीं थे। क्या यहाँ के लोग कभी रेशम के कीड़े भी पाला करते थे ? इसकी कम संभावना है। मुख्य (हरिहर) मंदिर के सामने मेरुवर्मा

द्वारा स्थापित पहाड़ी साँड के कद का पीतल का नंदी है, जिसकी पादपीठिका में लिखा है –

"ओं। *प्रासादमेरुसदृशं हिमवन्तमूर्ध्नि कृत्वा स्वयं प्रवरकर्म्मशुभैरनेकैः, तच्चन्द्रशालरचित नावनाभ नाम प्राग्ग्रीवकैर्विविध मण्डपनैकचित्रैः।
तस्याग्रतो वृषभपीनकपोलकायः संश्लिष्टवक्षककुदोन्नतदेवयानः,
श्री मेरुवर्म्मचतुरोदधिकीर्तिरेषा मातापितुः सततमात्मफलानुवृद्धैः।।
कृतं कर्म्मणि गुग्गेन।"*

हिमवान् के सिर पर मेरु के समान इस प्रासाद को राजा मेरुवर्मा ने 680 ई. में बनवाया। कई बार मरम्मत किए जाने पर भी यह वही 'प्रासाद' (मंदिर) है, इसमें संदेह नहीं। सबसे पिछली बार इस 'प्रासाद' की मरम्मत नागा बाबा ने करवाई। उनका नाम मैं सुन चुका था, पर वह घुमक्कड़ तपस्वी कुंभ पर प्रयाग जाकर अभी तक न लौट जबलपुर की हवा खा रहे थे। नादिया के पीछे मुख्य मंदिर की ओर नरसिंह मंदिर का दरवाजा था, जिसमें मेरुवर्मा द्वारा स्थापित नरसिंह की मूर्ति थी। मंदिर शिखराकार किन्तु अपेक्षाकृत छोटा था, जिसके भीतर विशाल न होने पर भी विकराल नरसिंह की मूर्ति हिरण्यकशिपु को विदारण करने में लगी हुई थी। इस प्रासाद-प्राँगण को 'चौरासी' कहा जाता है, जो शायद चौरासी सिद्धों के साथ सम्बंध जोड़ने का प्रयत्न मालूम होता है।

भरमौर का 'चौरासी' वस्तुतः राष्ट्रीय संग्रहालय है। यहाँ नरसिंह, लक्षणा देवी और गणेश की सातवीं-आठवीं शताब्दी की धातु-मूर्तियाँ अपने ऊपर उत्कीर्ण अभिलेखों के कारण भारत में अद्वितीय हैं। नरसिंह की मूर्ति के बारे में हम बतला चुके हैं। मुख्य मंदिर के पीछे एक कोने में लक्षणादेवी का साधारण-सा दिखाई देता मंदिर न केवल अपनी देवी की मूर्ति के कारण, बल्कि काठ के दरवाजे के कारु कार्य के कारण भी अद्वितीय है। संभव है, मूर्ति की तरह यह लकड़ी का दरवाज़ा भी हज़ार बरस पुराना हो। उसके बेल-बूटे ही अत्यंत सुंदर नहीं हैं, बल्कि मूर्तियाँ भी अद्वितीय हैं। चिह्न पर काल का प्रभाव अवश्य पड़ा है, परन्तु उससे सौंदर्य में कोई क्षति नहीं हुई है। जापान में ऐसी मूर्ति और कारुकार्य को राष्ट्रीय निधि घोषित करके किसी मंदिर में पूजित होने पर भी आग या दूसरी आपत्तियों से रक्षा का इंतज़ाम किया जाता, और उनके ऊपर 'राष्ट्रीय निधि' लिख कर लगा दिया जाता।

भारत सरकार के शिक्षा विभाग से आज ऐसी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि राष्ट्रीय निधि के बारे में उसके धनी-धरियों का दूसरा ही

विचार है। पर, हिमाचल सरकार को इसकी ओर ज़रूर ध्यान देना चाहिए, जिससे इनको कोई खतरा न पहुँच सके। काष्ठ संभवतः अखरोट का है। दरवाज़े के ऊपर बेल-बूटों की पांती में किन्नर-किन्नरी उड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। अगल-बगल में दो पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न देवमालाओं की हैं। मंदिर के भीतर लक्षणादेवी की मूर्ति है। शायद यह लक्ष्मी की मूर्ति हो अथवा उमा की। संस्थापक मेरुवर्मा ने उसी कर्मी गुग्गा से उत्कीर्ण करवाया है–"*श्री मेरुवर्म्मेण आत्मपुण्यवृद्धये लक्षणादेव्याच्चर्ऽकारार्पिताः*।" लक्षणा देवी के मंदिर के पीछे छोटा-सा गणेश का देवालय है, जिसमें कमर से नीचे कुछ खंडित गणेश की धातु मूर्ति के अतिरिक्त सभी चीज़ें नई हैं। इसके अभिलेख से मालूम होता है कि बनानेवाले वही राजा मेरुवर्मा थे।

हरिहर मंदिर के चबूतरे पर खड़े हो उत्तर-पश्चिम की ओर देखने पर हिमाच्छादित पर्वताश्रेणी का सुन्दर दृश्य सामने आता है। यही श्रेणी उत्तर की तरफ चली गई है, जिस पर तेरह हज़ार फुट की ऊँचाई पर मणिमहेश का सुन्दर सरोवर है। सावन के महीने में दूर-दूर से भक्त नर-नारी मणिमहेश के दर्शन के लिए आते हैं। इस दुर्गम हिमालय में कभी-कभी साधु भी दिखाई देते हैं। पर्वतीय लोग अपनी मनौतियों को पूरा करने के लिए सैंकड़ों बकरे महादेवजी के बलिदान के लिए लाते हैं। गद्दी लोगों का यह देश महादेव का देश माना जाता है। उमा का यही मायका है, जिसके कारण हरेक गद्दी सुन्दरी उमा को अपने घर की बेटी मानता है। उमा-महेश्वर के सम्बंध में यहाँ बहुत-से लोकगीत प्रसिद्ध हैं। कोई-कोई तो कई रातों गाने पर खत्म होते हैं। इन गीतों में उमा एक चंचल गद्दी कुमारी के रूप में चित्रित की गई है और महादेव हर समय नाचने-गाने में मस्त। भरमौर के खामाराम ने उस दिन हमें एक ऐसा ही गीत सुनाया था –

*"नच धुड़ुआ जटा ओ खलारी हो।"*

(शिव अपने जटा-मुकुट को खोले नाच रहा है।

पार्वती को धुड्डवा का यह नाच पसन्द नहीं है, क्योंकि शिव को अपने नाच से फुर्सत नहीं है, और यहाँ घर में चूहे डंड पेल रहे हैं। पार्वती बेचारी पेट-पीड़ा से मर रही है–

*"हऊँ ता मरदी पेटा री पीड़ा ओ।"*

उमा एक स्वाभिमानी गद्दी कुमारी ही नहीं है, बल्कि उसके लिए गद्दी कुमारियों की तरह भेड़ चराना, मन-मन का बोझ सिर पर उठाए चलना, अस्सी हाथ लम्बी काली रस्सी बाँधना भी आवश्यक है। वह यह नहीं देख

सकती कि उसका धुडुवा केवल नाच-गान में ही पड़ा रहे। शिव की पीठ पर वह मन-भर नहीं, दो मन का बोझ लदवाती है और उनके चोगे में चार मेमनों को भी रख देती है। भरमौर की उमा बिल्कुल मानवी है और उसके शिव भंगेड़ी भोला हैं।

यद्यपि अब पाशुपत लकुलिश सम्प्रदाय का यहाँ पता नहीं, किन्तु उस सम्प्रदाय के रेखांकित शिवलिंग अब भी यहाँ देखे जा सकते हैं। काम्बोज (कम्बोडिया) के शिवालयों के अभिलेखों से पता लगता है कि सातवीं-आठवीं सदी में वहाँ पशुपति को पशुबलि देने का कोई रिवाज़ नहीं था। यहाँ पाशुपत-धर्म के रहते समय भी पशुबलि नहीं दी जाती थी, इसकी संभावना नहीं। आखिर पुरानी प्रथा के अनुसार ही यहाँ या धर्मशाला के भागसूनाथ को बकरे चढ़ाए जाते हैं। पूजा के लिए गाँव में कुछ ब्राह्मणों के घर और कितने ही क्षत्रिय भी हैं।

इनमें एक और भी पुरानी प्रथा मौजूद है : कन्या के पिता को कन्या का शुल्क देकर ही कोई लड़की ब्याह सकता है। जिसके पास पैसा होता है, वह नगद देता है और जो ऐसी क्षमता नहीं रखता, वह किसी घर में चार-पाँच बरस की लड़की देखने पर अपनी सेवाएँ अर्पित करता है। भावी जमाता एक नौकर की तरह दस-बारह बरस तक भावी ससुर के घर में हरेक काम करता है। लड़की के सयानी होने पर उससे ब्याह हो जाता है और वह अपने पिता के घर लौटने के लिए स्वतंत्र होता है। लड़के को वस्तुतः शुल्क पाने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए, जैसा कि हमारे अधिक संस्कृत हिन्दू समाज में देखा जाता है। पिता-माता ने लड़की को पाल-पोस कर बड़ा किया। अब वह हमेशा के लिए उनके हाथ से निकल जानेवाली है; इसलिए उसके बदले में धन पाने का अधिकार उन्हें होना चाहिए। तिब्बत जैसे दूसरे देशों में भी क्षीरमूल्य माता-पिता को दिया जाता है। मेरे भरमौर में जाने के समय कोई इस तरह का उम्मीदवार अपने भावी ससुर के घर में काम नहीं कर रहा था। नीचे की संस्कृति के अधिक संपर्क में आने के कारण शिक्षित लोग अब इस प्रथा को छोड़ते जा रहे हैं।

भरमौर में पहले तहसीलदार रहा करते थे। लेकिन रियासतों के तहसीलदारों का इलाका दस-बीस हज़ार की आबादी से अधिक का नहीं होता था। अब उनके वेतन आदि का दर्जा भारत के अन्य भागों की तरह रखा जाने लगा है। इसलिये बहुत-सी तहसीलदारियों को नायब-तहसीलदारी बनाना पड़ा। भरमौर के नायब-तहसीलदार बाहर गए हुए थे। वह शाम को

आए। श्री मुन्शीराम सर्वे के नायब-तहसीलदार वहाँ मौजद थे और उस दिन मध्याह्न-भोजन उन्होंने अपने यहाँ कराया। भरमौर का इलाका अपने खाने-भर के लिए भी अनाज पैदा नहीं करता और सरकार की ओर से वहाँ अनाज भेजने का भी कोई प्रबंध नहीं है। मोटर सड़क बनाने के लिए नापी हो चुकी है, लेकिन जैसे विकराल पत्थरों को तोड़कर उसे बनाना होगा, वह भारी व्ययसाध्य है। कहा नहीं जा सकता, मोटर कब तक यहाँ पहुँचेगी। मोटर के आ जाने पर अनाज और दूसरे खाद्य-पदार्थ सस्ते और सुलभ हो जायेंगे। जब तक वह नहीं होता, तब तक मोटर-सर्विस की तरह हिमाचल सरकार को कितने ही स्थानों में खच्चर-सर्विस शुरू करनी चाहिए। चम्बा या राख से डेढ़ दिन में आदमी भरमौर पहुँच सकता है, लेकिन यहाँ सामान की ढुलाई के लिए पहले तो आदमी का मिलना ही मुश्किल है, और मिलने पर मजूरी बहुत देनी पड़ती है।

हिमाचल के और भागों की तरह यहाँ भी डाक का इन्तज़ाम बहुत अच्छा नहीं है। खाने की चीज़ों के पार्सल लोग डाक से मँगवा सकते थे, लेकिन यह ठिकाना नहीं, वह कितने महीने में भरमौर पहुँचेंगे। हिमाचल के दूसरे छोर पर ऊपरी सतलुज के चिनी के हेडमास्टर बेचारे बहुत इच्छा रखते हुए भी वहाँ से अपना तबादला चाहते हैं, क्योंकि चिनी में डाकखाना रहने पर भी खाने-पीने की चीज़ें डाक पार्सल से तीन-तीन महीने में पहुँचती हैं। कम-से-कम अपने कर्मचारियों के लिए तो कुछ समुचित प्रबंध करना चाहिए और डाक विभाग पर ज़ोर देना चाहिए कि वह वैतनिक भारवाहकों या खच्चरों का प्रबंध करे। उस दिन जिस चावल का भात मैंने खाया था, वह नीचे से आया था। भरमौर में दुकान है, लेकिन माल मँगाने की शिकायत उनकी भी वैसी ही है।

शाम के वक्त हम गाँव में गये। मकान अधिकतर लकड़ी के हैं (छतें भी) और अधिकतर दो मंज़िले। नीचे की मंज़िल में लोग अपने पशुओं को रखते हैं। कुछ खाते-पीते लोग तानीराम लिखवार की तरह जाड़ों में भी यहीं रहते हैं, किन्तु दूसरे अपने पशु-प्राणियों के साथ नीचे चले जाते हैं। मैं यह बतला चुका हूँ, कि गद्दी कोई खास जात नहीं है, बल्कि भरमौर नायब-तहसीलदारी के रहनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय सभी गद्दी कहलाते हैं। उनकी अपनी एक कलापूर्ण जातीय पोशाक है, जिसमें ऊनी काली रस्सी कमर की शोभा मानी जाती है। इन पहाड़ों में मोनाल नामक एक सुंदर पक्षी होता है, जिसके पंख मोर की तरह लम्बे नहीं होते, लेकिन उसकी चूड़ा मोर से भी ज़्यादा सुंदर होती है। यहाँ के लोग अपनी पगड़ी में उसे बड़े आकर्षक ढंग

से लगाते हैं। मेरे कहने पर तानीराम जी ने अपनी जातीय पोशाक में फोटो लिवाना स्वीकार कर लिया।

**फिर चम्बा :** अगले दिन (2 मई) इतवार का दिन था और मेरे मेहरबान मेजबानों को उस दिन छुट्टी होने से अधिक अवकाश था। परन्तु दोपहर को यहाँ पहुँचने के बाद मैं इतना संलग्न हो गया कि रात तक सारा काम समाप्त हो गया और अगले दिन रहने की ज़रूरत नहीं थी। मैंने अच्छा किया जो आते ही फोटो ले लिये, नहीं तो मध्याह्न के बाद आसमान में बादल मंडराने लगे, शाम को कुछ बूँदें पड़ीं और रात को वर्षा भी हुई। अवर्षण से खड़ी खेती को मुरझाते देख किसानों के प्राण सूख गये थे। भरमौरवालों का कहना था कि यदि वर्षा हो जाए तो कम-से-कम बीज तो घर में लौट आयेगा। हमने उस दिन सूर्योदय से पहले पाँच बजे ही प्रस्थान कर दिया और मन में संकल्प कर लिया कि आज ही चम्बा पहुँच जायेंगे।

खणी में न ठहर कर हम उतराई उतर घोड़े पर सवार हो गए और सवा ग्यारह बजे गेहरा पहुँच गए। यहीं भोजन कर लेना था। धार के पास पश्चिमी पंजाब के एक शरणार्थी वृद्ध ने रसोईखाना खोल रखा था। वहाँ हर वक्त भोजन तैयार तो नहीं मिल सकता था, क्योंकि उतने खानेवाले नहीं मिलते, पर पहुँचने पर उन्होंने हम चारों आदमियों के लिये भोजन तैयार कर दिया। भोजन करके भी हम थोड़ी देर विश्राम के लिये ठहर गये, क्योंकि गर्मी तेज़ थी। बादल जब-तब सूरज के मुख को ढाँकने-भर को ही अपना कर्तव्य समझते थे। पौन बजे हम फिर वहाँ से रवाना हो गये। घोड़े अच्छे और मज़बूत थे, लेकिन पथरीले रास्ते में ठोकर खाना मामूली बात थी। साईस इस बात को जानते थे। पहले मेरे घोड़े ने ठोकर खाई और मैं उछलकर उसके कंधे पर पहुँच गया। यदि साथ चलते साईस ने उसी समय पकड़ न लिया होता तो मुमकिन है कि मैं आगे जा पड़ता। कुछ दूर और आगे चलने पर अब शोभाकांत जी की बारी आई। यह जगह और भी बुरी थी। छोटे नाले में पत्थर पड़े हुए थे। घोड़े ने ठोकर खाने के लिए बड़ी बुरी जगह चुनी थी। ठोकर खाने की आवाज़ सुनते ही मैंने पीछे की ओर मुँह फेरा तो देखा कि शोभाकांत जी घोड़े के कानों पर चले आए हैं। उनके मुख की रेखाएँ मानसिक संकट को साफ बतला रही थीं। साईस ने तुरन्त दौड़ कर उन को गिरने से बचा लिया। पहाड़ की यात्रा में चाहे मोटर से चलना हो या घोड़े से, हर जगह संकट की संभावना रहती है। पहाड़ की ही क्यों शिकायत करें, क्या रेल की यात्रा निरापद है ? मनुष्य तो वस्तुतः आपत्तियों के भीतर से ही

आगे बढ़ा है। हम इस बात की बड़ी फिक्र में थे, कि कहीं राख पहुँचने से पहले ही बस न चली जाये।

सवा चार बजे राख पहुँचने पर मालूम हुआ कि बस के आने में अभी देर है। छह बजे जब हमारी बस चली तो बूँदाबाँदी होने लगी थी। एक घंटे में हम चम्बा पहुँच गये। पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार अबके हम नेगी ठाकुर सेन के बंगले में ठहरे। पं. जयवन्तराम जी के भानजे श्रीनिवासजी ने हमारे लिए कुछ सामग्री जमा कर रखी थी। यद्यपि अगले दिन के लिए कोई विशेष काम नहीं था तो भी उस दिन हमने यहीं रहने का निश्चय किया। चम्बा नगर के कितने ही साहित्य-प्रेमी मेरे आने की खबर पा चुके थे। निवास स्थान पर ही घंटों साहित्य गोष्ठी होती रही। नगर घूमते हुए हम रंगमहल देखने गये, जो दो सौ वर्ष पहले बना था। अब वह परित्यक्त-सा है और डर है कि मरम्मत के बिना वह किसी समय गिर न जाए। इसके दो कमरों की दीवारों में चम्बा कलम के कुछ सुंदर चित्र हैं। देखते-देखते हमारी आँखों के सामने महल के साथ ये चित्र भी क्या गिर कर नष्ट होने के लिए हैं ?

श्री सुमनजी यहाँ के एक साहित्यकार और साहित्य-प्रेमी तरुण हैं। वह स्थानीय सनातन धर्म सभा के पुस्तकालय के मंत्री भी हैं। पुस्तकालय आज से सत्रह बरस पहले (1936 ई.) स्थापित हुआ था, जिसमें धीरे-धीरे तीन हज़ार से अधिक पुस्तकें एकत्रित हो गईं। उनमें से कुछ हस्तलिखित भी हैं। यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) की पांडुलिपि संवत् 1474 (सन् 1417 ई.) के मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष दशमी, शुक्रवार को लिखी गई थी, जिस वक्त महाराजा–धिराज साहिल का शासन था। इंच्छपुर, शुभ नगर में इंच्छराज ने इसे लिखा था। उसी संहिता का उत्तरार्द्ध संवत् 1564 (1507 ई.) द्वितीय आषाढ़ सुदी 12 रविवार को लिख कर समाप्त किया गया था। पुस्तकालय में 'तत्त्वचिंतामणि' का 'व्युत्पत्तिवाद' (मुद्रित) भी मौजूद था जो बतला रहा था कि चम्बा राजधानी में न्याय के गंभीर विद्वानों का अभाव नहीं था। एक ब्राह्मण घर में छन्दशास्त्र पर लिखी एक तालपत्र की पोथी भी मौजूद है। यदि शोध किया जाये तो कुछ दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का काम अभी तक नहीं-सा हुआ है। शिक्षा विभाग को किसी तरुण को इस काम पर लगाना चाहिए। जो पुस्तकें दाम पर मिलें, उन्हें राजधानी (शिमला) के संग्रहालय या पुस्तकालय में रखना चाहिए। जो न मिलें उनका सविवरण सूचीपत्र हर साल छाप लेना चाहिए।

काँगड़ा छोड़ नेपाल से चम्बा तक सभी जगह एक ही पहाड़ी भाषा की भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनमें **का** के लिये **रा**, **गा** के लिये

**ला** और **है** के लिये **छे** का अधिकतर प्रयोग होता है। नेपाली में **रा** का अभाव है और चंबियाली की भरमौरी बोली में **छे** का। सतलुज से महाकाली तक तीनों शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। ये तीनों प्रत्यय मारवाड़ी में भी मिलते हैं। चम्बा नगर की बोली में **छे** ही नहीं, बल्कि **रा** और **ला** का भी अभाव आजकल देखा जाता है और वह एक तरह की पुरानी पंजाबी-सी मालूम होती है। सनातन धर्म पुस्तकालय में पिछली शताब्दी के अंत में हचीसन ने चम्बयाली की कुछ कहानियाँ उर्दू लिपि में छपवाई थीं, जिनमें **रा** और **ला** का प्रयोग साफ देखने में आता है। वृद्धों ने भी कुछ उदाहरण देकर बतलाया, कि **रा** और **ला** का इस्तेमाल हमारी भाषा से विल्कुल लुप्त नहीं हुआ।

4 मई को हमने नेगी साहब की सहायता और आतिथ्य के लिए हृदय से धन्यवाद देते चम्बा से प्रस्थान किया। यात्रारंभ करते हमारा विचार था कि पहाड़ के रास्ते ही लौटें। लेकिन, अब वह ठीक नहीं मालूम हो रहा था। यदि बीच में बिना रुके भी इस यात्रा को करते तो चम्बा से एक दिन पठानकोट जाने में लगता, वहाँ से दूसरे दिन मोटर पर मंडी पहुँचते, तीसरे दिन शिमला, चौथे दिन नाहन और पाँचवें दिन देहरादून। पठानकोट से सीधे जनता एक्सप्रेस से सहारनपुर पहुँचा जा सकता था और अगले ही दिन वहाँ से देहरादून होते मसूरी आ सकते थे। पठानकोट से अमृतसर जाने का भी आकर्षण था; क्योंकि भाई साहब स्वामी हरिशरणानन्द जी और भाभी जी का उधर से ही लौटने का बहुत आग्रह था। यद्यपि मई की गर्मी में इस तरह की यात्रा सुखकर नहीं हो सकती थी, लेकिन अंत में हमने इसी को स्वीकार किया।

*('हिमाचल' : राहुल सांकृत्यायन से)*

# पवित्र छड़ी यात्रा व मणिमहेश न्हौण

## रमेश जसरोटिया

चम्बा जनपद में मणिमहेश न्हौण (पवित्र स्नान) का विशेष महत्त्व है। मणिमहेश के प्रति श्रद्धा और आस्था का स्वरूप यह न्हौण दो रूपों में जाना जाता है--एक भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी अर्थात् जन्माष्टमी को 'छोटा न्हौण' और दूसरा इसके पन्द्रह दिनों के बाद शुक्ल पक्ष की राधाष्टमी के दिन 'बड्डा न्हौण'। इस न्हौण के प्रति विशेष अवधारणा यह है कि इसे समस्त पापों से मुक्त होकर मोक्ष प्रदान करनेवाला माना जाता है। अतः चम्बा जनपद के अलावा दूर-दूर से आये श्रद्धालु, जिनकी संख्या जन्माष्टमी से राधाष्टमी तक लाखों में पहुँच जाती है, कठिनाई भरी मीलों पैदल यात्रा करके मणिमहेश डल में डुबकी लगाकर पाप मुक्ति के साथ-साथ मोक्ष प्राप्ति की भी कामना करते हैं।

मणिमहेश का सामान्य अर्थ 'महेश (शिव) के मन को भानेवाला स्थान है, जिसे कुछ विद्वान महेश की मणि अर्थात् हृदय-स्थली भी मान लेते हैं। इस न्हौण के विषय में प्रचलित किम्वदन्तियों के अनुसार इसका सम्बंध आदि युग से है जब भगवान शिव अपने गणों सहित ब्रह्मपुरी (ब्रह्मपुर/भरमौर) पधारे थे। हिमालयी क्षेत्र शिव का विचरण क्षेत्र माना जाता है और मणिमहेश उनकी प्रिय स्थली। ब्रह्मपुरी, माँ भरमाणी का निवास माना जाता है। भरमाणी शब्द ब्रह्माणी का अपभ्रंश है। देवी ब्रह्माणी का वर्णन दुर्गा सप्तशती में मिलता है, जिन्हें ऊर्ध्व दिशा की स्वामिनी कहा गया है।

दंतकथा के अनुसार एक बार भगवान शिव ने पाताल कश्मीर से मणिमहेश जाते हुए भरमाणी माता के प्रांगण में अपने गणों के साथ डेरा डाला, जो शिव सहित संख्या में चौरासी थे। उस समय माता भरमाणी कहीं बाहर गई हुई थी। वापिस आने पर इतनी भीड़ को अपने परिसर में देखकर माँ क्षुब्ध हो गई। शिव ने कहा--तू नाराज़ न हो, हमें मात्र रात्रि विश्राम करना है, प्रातःकाल सभी चले जाएँगे। रात काटकर प्रातः जब शिव अपने गणों सहित मणिमहेश की ओर प्रस्थान करने लगे तो यहाँ-वहाँ ज्ले धूणे, उनसे फैली राख, धूणे के स्थानों पर उगे (निकले) शिवलिङ्गों को दख माँ ने अत्यधिक

क्रोधित हो कर अपना विकराल रूप धारण किया। शिव ने जब अपने कृत्य पर खेद व्यक्त करते हुए क्षमायाचना की तो माँ शांत हुई। परन्तु निर्णय लिया कि अब वह इस स्थान पर नहीं रहेगी। आस-पास के लोगों को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने माँ को बहुत मनाया और उन्हें इस प्रकार अनाथ बनाकर चले न जाने का आग्रह किया। माँ ने तब कहा कि वह वहाँ अपना स्थान ग्रहण करेगी जो लोगों के तो समीप हो पर जहाँ से वर्तमान स्थान दिखाई न दे। माँ द्वारा चयनित वह स्थान वर्तमान भरमाणी है जो भरमौर से तो कुछ ही दूरी पर स्थित है, परन्तु वहाँ से भरमौर दिखाई नहीं देता। यह सब देखकर भगवान शिव ने जाती बार वरदान दिया कि पहले तेरे यहाँ स्नान कर श्रद्धालु पवित्र होंगे, उसके बाद ही मेरे दर्शनों का फल मिलेगा। लोक-विश्वास के अनुसार भरमौर स्थित मंदिर परिसर के छोटे बड़े तिरासी शिवलिंग गणों के तथा चौरासीवाँ विशाल शिवलिंग शिव द्वारा जलाए गए धूणे से उत्पन्न है।

उधर भरमाणी में, जहाँ माँ ब्रह्माणी ने अपना स्थान चुना, सात सीरें (स्रोत) निकलीं। मान्यता है कि उनमें से एक सफेद रंग की है जो दूध की है। इसे प्रकृति की विशेषता कहें अथवा माँ का चमत्कार कि उन सीरों से निकला पानी भरमाणी से भरमौर तक कभी गंदला नहीं होता, चाहे कितनी भी वर्षा क्यों न हो। इस स्थान के बारे में यह भी मान्यता है कि यहाँ बन्ह (धागे, कतरन आदि का बंधन) बाँधकर मनवांछित फल प्राप्त किया जा सकता है।

मणिमहेश जाते समय शिव ने ब्रह्मपुरी (भरमौर), हड़सर तथा धणछो के स्थानों में डेरे (पड़ाव) डाले थे। अतः आज भी लोग मणिमहेश को जाते समय इन स्थानों पर विश्राम करना धर्मसम्मत मानते हैं। धणछो से आगे एक लघु डल विद्यमान है। इसे गौरीकुण्ड कहते हैं। मान्यता है कि माँ गौरजा (पार्वती) अपनी सखी-सहेलियों के साथ इस स्थान पर स्नान करती थी। आज भी इस कुण्ड में महिलाओं द्वारा मणिमहेश स्नान से पूर्व डुबकी लगाई जाती है। इस स्थान से थोड़ी ही दूरी पर एक अन्य स्थान है – शिव-क्रोत्तर। यहाँ भगवान शिव द्वारा स्नान किए जाने की अवधारणा है। यहाँ का जल इतना ठंडा है कि मात्र छूने से ही करोत (आरे) का सा अनुभव होता है। इसी कारण इसका नाम शिव क्रोत्तर पड़ा।

मणिमहेश यात्रा के वर्तमान स्वरूप का आरम्भ 10वीं शताब्दी से माना जाता है। यहाँ के संस्थापक राजा शैल वर्मन (प्रचलित नाम साहिल वर्मन, 920-940 ई.) द्वारा अपने गुरु योगी चरपटनाथ के आदेश पर प्रजा में

धार्मिक आस्था और भगवान शिव के प्रति श्रद्धा भाव बनाए रखने के उद्देश्य से इस यात्रा को राजाश्रय प्रदान किया गया था। हालाँकि वैदिक काल से ही यहाँ स्नान किए जाने का विश्वास है, परन्तु तब इस जनपद की राजधानी चम्बा के स्थान पर ब्रह्मपुर (>ब्रह्मपुरी> ब्रह्मपुर>भरमौर) में थी। जनपद भी *गब्दिका* के नाम से जाना जाता था (पाणिनी-अष्टाध्यायी)।

चम्बा नगर के मध्य में स्थित लक्ष्मी-नारायण मन्दिर समूह अपनी वास्तुकला के लिए विश्वविख्यात है। इसी परिसर से वर्तमान में श्रीलक्ष्मीनाथ जी के मन्दिर (10वीं शताब्दी) से छड़ी-यात्रा आरम्भ होती है। पहले लक्ष्मीनाथ जी के भण्डार में रखी छड़ी, भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की प्रथमा को विधि-पूर्वक पूजा-अर्चना करके गिरि सम्प्रदाय को सौंपी जाती थी। उधर इसी दिन चरपटनाथ जी के निशान–त्रिशूल, सांकल व झंडा लेकर उनके वंशज यात्रा आरम्भ करते थे। त्रिशूल के विषय में बताया जाता है कि इसे योगी चरपटनाथ को उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान शिव द्वारा प्रदान किया गया था।

गिरि सम्प्रदाय के बावूगिर के देहावसान के पश्चात् वर्ष 1984 से चम्बा के दशनामी अखाड़े के संन्यासी अब इस छड़ी को लेकर यात्रा करने लगे हैं। त्रिशूल, जिसे चाँदी के मोहरे से ढका होता है और छड़ी जिसमें भद्रवाह से आया निशान भी सम्मिलित हो जाता है, पहले प्रथम दिन अपराह्न बाद यात्रा आरम्भ करके जुलाकड़ी मुहल्ले में राधा-कृष्ण के मन्दिर में रात्रि विश्राम करते थे। अगले दिन बौखरी, फिर चूड़ी, छतराड़ी, रणूहकोठी, उलासां, खड़ामुख, खणी होते हुए भरमौर पहुँचते थे। भरमौर से यह यात्रा हड़सर, फिर भैरोघाटी और सप्तमी के दिन मणिमहेश डल़ पहुँचती थी। अष्टमी को पवित्र स्नान कर यह चम्बा को वापिस लौटती थी। वर्तमान में इस क्रम में तबदीली आ चुकी है। अब चम्बा से निश्चित दिन को यात्रा आरम्भ होकर हरदरासपुर, भरमौर, हड़सर, भैरोघाटी में विश्राम कर सप्तमी को डल़ पहुँचती है और अष्टमी को स्नानोपरांत वापिस लौटती है।

यात्रा के भरमौर पहुँचने पर वहाँ जात्तरें (उत्सव) आरम्भ हो जाती हैं, जो दो दिनों तक चलती हैं। दूसरी जात्तर को सायं यात्रा आगे बढ़ती है और हड़सर नामक गाँव शिव मंदिर में विश्राम करती है। अगले दिन अर्द्धरात्रि को हड़सर से प्रस्थान कर रात्रि विश्राम भैरोघाटी नामक स्थान में किया जाता है। छड़ी का यहाँ से आगे जाना वर्जित है। मात्र चरपटनाथ के निशान शुक्ल पक्ष की सप्तमी को प्रातः आगे की यात्रा आरम्भ करते हैं। इसी दिन दोपहर

तक मणिमहेश डल के एक छोर में प्रतिष्ठित शिवलिंग के पास निशान, मोहरे, झंडा आदि रख दिए जाते हैं। इस प्राचीन शिवलिंग की विशेषता यह है कि चाहे कितनी भी बर्फ़ क्यों न पड़े, यह पिंडी (लिंग) कभी ढकती नहीं है। इसके पश्चात् यहाँ पहुँचे श्रद्धालु शिवलिंग व निशान की पूजा-अर्चना कर सामर्थ्यानुसार भेंट चढ़ाते हैं। शिव को प्रसन्न करने के उद्देश्य से मेढ़ों और काली के निमित्त बकरे या बकरियों की बलि देने की परम्परा है।

मणिमहेश डल एक अदृश्य रेखा से दो भागों में विभाजित है। एक भाग शिव डल और दूसरा भाग काली डल के नाम से प्रसिद्ध है। जनश्रुति है कि काली डल में डुबकी लगानेवाला कभी वापिस नहीं लौटता। शिवलिंग और डल मैदान में स्थान-स्थान पर शिव आराधना व भजन-कीर्तन चलता रहता है। इच्छुकों द्वारा शिवजी का चेला (गूर–जिसमें देव शक्ति संचरण होता है) बनने की आनुष्ठानिक क्रियाएँ भी इसी दिन सम्पन्न की जाती हैं। अगले दिन अर्थात् अष्टमी (राधाष्टमी) को निश्चित मुहूर्त में भरमौर के सचुंई गाँव के सचाल गोत्र के चेलों द्वारा मणिमहेश डल में डुबकी लगाकर तथा कुछ द्वारा शिवलिंग की ओर से दूसरी ओर तक तैरकर डल को पार किया जाता है। निश्चित मुहूर्त को *पर्बी* तथा तैरकर डल पार करने को *डलभनणा* कहते हैं। इसके पश्चात् आए जातरू, श्रद्धालु न्हौण नहाते (पवित्र स्नान करते) हैं। इसी दिन अष्टमी को त्रिशूल-मोहरा वापिस चम्बा की ओर प्रस्थान करता है। परन्तु वापिस आने का क्रम वह नहीं होता जो यात्रा आरम्भ का होता है। अब यह निशान स्थान-स्थान पर रुककर, लोगों का आतिथ्य स्वीकार करता हुआ अपने गंतव्य की ओर चलता है। श्रद्धालु अपने यहाँ एक रात रुकने का आमन्त्रण देते हैं। यात्रा के दौरान लोगों द्वारा अन्न व धन भेंट किया जाता है। इस प्रकार वापसी पर लगभग एक माह तक लोगों का सत्कार ग्रहण कर नवरात्रों में यह निशान अपने मूल स्थान अर्थात् चर्पटनाथ की कुटिया में पहुँचता है।

*('गिरिराज' से)*

# मणिमहेश कैलास यात्रा

## कमल प्रसाद शर्मा

बुढल नदी के किनारे चम्बा के उत्तर-पूर्व में अवस्थित भरमौर (प्राचीन ब्रह्मपुर) की समग्र उपत्यका को 'शिव-भूमि' के रूप में मान्यता प्राप्त है। हडसर और धणछो होते हुए पर्वतारोहण के बाद मणिमहेश कैलास और पवित्र झील के दर्शन होते हैं। इस उत्तुंग पर्वत को मणिमहेश कैलास अर्थात् 'शिव का धाम' माना जाता है। मणिमहेश कैलास का माहात्म्य प्राचीन काल से रहा है। इस तीर्थ में भाद्रपद मास में पवित्र स्नान के लिए उत्तर भारत के प्रांतों, विशेषकर जम्मू-कश्मीर, पंजाब, उत्तराखंड आदि राज्यों से प्रतिवर्ष लाखों श्रद्धालु आते हैं। सिद्धों, नाथों, योगियों, साधुओं व सन्यासियों के लिए भी भरमौर और मणिमहेश कैलास सदैव श्रद्धा का केन्द्र रहा है।

मणिमहेश के पवित्र स्नान को स्थानीय भाषा में 'न्हौण' कहा जाता है। यह कृष्णजन्माष्टमी और राधाष्टमी अथवा दूर्वाष्टमी के दिन होता है। कृष्ण जन्माष्टमी को होनेवाले स्नान के पर्व को 'योग न्हौण' कहते हैं। योग शब्द शिव के महायोगी होने को इंगित करता है। जनश्रुति के अनुसार कृष्णजन्माष्टमी के पर्व पर पौ फटते ही भगवान शिव स्वयं पवित्र सरोवर में स्नान करने को आते हैं। योग न्हौण के दिन केवल योगी, साधु और संन्यासी पवित्र डल (सरोवर) में स्नान करते हैं। जो श्रद्धालु मुख्य स्नान के पर्व (राधाष्टमी) वाले दिन भारी-भरकम भीड़ से बचना चाहते हैं, वे कृष्ण-जन्माष्टमी के दिन स्नान करने को प्राथमिकता देते हैं। राधाष्टमी या दूर्वाष्टमी के पर्व पर होनेवाले मुख्य स्नान को 'मणिमहेश न्हौण' या 'बड़ा न्हौण' कहते हैं। दूर्वाष्टमी का पर्व भाद्रपद मास में शुक्लाष्टमी के दिन यानी कृष्ण जन्माष्टमी से ठीक पन्द्रह दिनों के बाद आता है। बड़े न्हौण के पर्व पर ब्रह्ममुहूर्त में मणिमहेश डल़ (झील) का जल स्तर आश्चर्यजनक ढंग से बढ़ जाता है। इस अवसर पर तीर्थयात्रियों को विचित्र व अलौकिक अनुभूति होती है। अतः बड़े न्हौण के पर्व पर तीर्थयात्री मणिमहेश कैलास के दर्शन पाने को लालायित रहते हैं। गंगाजल की भाँति झील के पवित्र जल की निर्मलता बनी रहती है।

## छड़ी यात्रा

मणिमहेश न्हौण की यात्रा का प्रारंभ चम्बा के रामगढ़ मुहल्ला में स्थित दशनामी पंचजूना अखाड़े से होता है। आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित अखाड़े में दत्तात्रेय की चरण पादुकाओं की पूजा-अर्चना के पश्चात् छड़ीनुमा एक चाँदी के दंड को चिह्न के रूप में लेकर शोभायात्रा निकलती है, जिसमें प्रशासनिक अधिकारियों के अतिरिक्त नगर के गणमान्य लोग सम्मिलित होते हैं। इसी दिन चरपट मुहल्ला में चर्पटनाथ के मंदिर से भी ध्वजा और अन्य चिह्न लेकर चर्पट का पुजारी लक्ष्मीनारायण मंदिर के प्रांगण में पहुँचता है। यहीं से एक भव्य शोभायात्रा चिह्न-ध्वजा और छड़ी लेकर भरमौर की ओर रवाना होती है, जिसका प्रथम पड़ाव चम्बा से दो किलोमीटर दूर जुलाहकड़ी में स्थित राधाकृष्ण मंदिर में होता है। दूसरी प्रातः छड़ी यात्रा पैदल यात्रियों, दशनामी अखाड़े के महंत और चर्पटनाथ के पुजारी आदि के दल के साथ अगले गंतव्य को चल निकलती है। इस प्रकार राख, धरबाला, दुर्गेठी, खड़ामुख होते हुए छड़ीयात्रा अंततः भरमौर पहुँचती है। बाद में एक नियत समय पर पुनः छड़ी यात्रा हडसर, धणछो से गुज़रते हुए पवित्र स्नान से ठीक एक दिन पूर्व अपने अंतिम गंतव्य 'मणिमहेश कैलास' झील तक पहुँचती है। धणछो में छड़ी यात्रा के दल के साथ केलंग का चेला (गूर) भी अपने चिह्न लेकर आ मिलता है।

## भरमाणी (ब्रह्माणी)

मणिमहेश जाने से पूर्व तीर्थयात्रियों को भरमौर के पास स्थित भरमाणी (ब्रह्माणी) माता के जलकुंड में स्नान करना आवश्यक होता है। भरमाणी का मंदिर भरमौर से लगभग चार कि.मी. दूर पहाड़ी पर अवस्थित है। इस मंदिर के प्रांगण में बने जलकुंड का जल अत्यन्त शीतल होता है। औषधीय गुणों से युक्त इस जलकुंड में स्नान करने का विशेष महत्त्व है। जो लोग भरमाणी मंदिर जा पाने में असमर्थ हैं, वे केवल भरमाणी नाले में ही स्नान कर लेते हैं।

## भरमौर

मणिमहेश न्हौण यात्रा का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है भरमौर, जिसे प्राचीन समय में ब्रह्मपुर राज्य कहा जाता था। चम्बा नगर की स्थापना से पूर्व सूर्यवंशी राजा ब्रह्मपुर (भरमौर) में राज्य करते थे। 7वीं शती में मेरुवर्मन नामक यशस्वी राजा ने भरमौर के चौरासी में अनेक भव्य मंदिरों की स्थापना की और पीतल की आदमकद देव-प्रतिमाएँ स्थापित कीं। चौरासी में मणिमहेश

शिव का शिखर शैली में निर्मित विशाल प्रस्तर मंदिर है, जिसमें विशाल शिवलिंग स्थापित है। इसके अतिरिक्त लक्षणा देवी, गणपति, नरसिंह आदि के मंदिर शिल्प कला के बेजोड़ नमूने हैं। शैव मत का प्रभाव होने के कारण यह समस्त क्षेत्र शिवभूमि कहलाता है। गद्दी जनजाति की पोशाक में शंकु आकार का टोप भी मणिमहेश पर्वत का द्योतक है। भरमौर में विश्राम करने के बाद अगला पड़ाव हड़सर गाँव है।

## हड़सर

भरमौर से हड़सर की यात्रा सुगम है। यहाँ पर भगवान शिव का एक मंदिर है, जहाँ हर तीर्थयात्री अर्चना करता है। 'हड़सर' संभवत. हर-सर अर्थात 'शिव का सरोवर' का अपभ्रंश रूप है। इसी स्थान पर बुड्ढल नदी में धणछो नाला आ मिलता है। 'हड़सर' के बारे में यह भी कहा जाता है कि पुराने समय में धणछो नाला और बुड्ढल नदी के संगम पर मृतकों की अस्थियों को प्रवाहित किया जाता था। इसी कारण इस स्थान का नाम हड (हड्डी) सर पड़ा। आज भी यदि मणिमहेश यात्रा के दौरान कोई तीर्थयात्री मर जाए तो उसकी अंत्येष्टि इसी संगम स्थल पर की जाती है।

## धणछो

हड़सर के पश्चात् अगला पड़ाव धणछो है। धणछो दो शब्दों से बना है–'धण' और 'छो'। स्थानीय बोली में भेड़-बकरियों के झुंड को 'धण' और जल-प्रपात को 'छो' कहते हैं। इस प्रकार यहाँ भेड़-बकरियों की चरागाहें होने के कारण इस क्षेत्र का नाम धणछो पड़ गया। चम्बावासियों में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि शिव और पार्वती ने एक बार धणछो में शरण ली थी, जब भस्मासुर ने शिव को भस्म करना चाहा था।

शिव के पुत्र कार्तिकेय को भरमौर क्षेत्र में 'केलंग वजीर' के नाम से जाना जाता है। धणछो को केलंग की गद्दी माना जाता है। यहीं पर कुगती के केलंग मंदिर का चेला (गूर) छड़ी यात्रा में सम्मिलित होता है। धणछो का जल-प्रपात 100 फीट ऊँचा है। इस ऊँचे जल-प्रपात का बड़ा मनोरम दृश्य दिखलाई पड़ता है। कई तीर्थयात्री इस जल-प्रपात में स्नान भी करते हैं। धणछो से आगे का रास्ता दुर्गम चट्टानोंवाले मार्ग से होकर गुज़रता है। मणिमहेश पहुँचने से पूर्व गौरी कुंड आता है। यहाँ के सरोवर में भी तीर्थयात्री स्नान करते हैं।

## मणिमहेश डल (झील)

मणिमहेश कैलास के अँचल में स्थित सरोवर को स्थानीय लोग

'डल़' कहते हैं। लगभग 13,500 फुट की ऊँचाई पर स्थित मणिमहेश डल को समग्र उत्तर-पश्चिमी हिमालय में सबसे पवित्र माना गया है। ऐसी मान्यता है कि इस डल में स्नान करने से स्वास्थ्य लाभ के अतिरिक्त आध्यात्मिक पुण्य भी मिलता है। मणिमहेश कैलास से निसृत जल सरोवर में एकत्र होता है, जिसमें कई औषधीय गुणोंवाली जड़ी-बूटियों का चमत्कारी प्रभाव रहता है। अतः डल झील में स्नान करनेवाले तीर्थयात्रियों को लाभ अवश्य मिलता है।

## चतुर्मुखी शिवलिंग

मणिमहेश डल के पास एक ऊँचे चबूतरे पर खुले आकाश में संगमरमर पत्थर का एक चतुर्मुखी शिवलिंग स्थापित है। डॉ. विश्वचंद ओहरी के अनुसार यह शिवलिंग सातवीं शताब्दी में निर्मित है। प्रतिमा शास्त्र के अनुसार शिव के ये मुख तत्पुरुष महादेव, अघोर, वामदेव व सद्योजात मुखों को इंगित करते हैं। पाँचवा मुख ईशान संभवतः अदृश्य है।

## मणिमहेश कैलास

मणिमहेश झील के पास पहुँच कर पिरामिड आकार के कैलास पर्वत के दर्शन होते हैं। इस पर्वत की ऊपरी चोटी पर शिवलिंग के आकार का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। इसे शिखरेश्वर लिंग कहते हैं। राधाष्टमी के दिन पवित्र स्नान के पर्व में पौ फटते ही यहाँ हल्की धुंध छाई रहती है, तब सूर्य की प्रथम किरणें कैलास पर्वत के शिखर से निकलने लगती हैं। शिखरेश्वर लिंग के ऊपर से निकलती सूर्य रश्मियाँ मणि की भाँति दिखाई देने लगती हैं। संभवतः इसी कारण इसे मणिमहेश कहते हैं। मणिमहेश के बारे में और भी कई किंवदंतियाँ जुड़ी हैं। कुछ लोग इसे मनमहेश भी कहते हैं।

ब्रह्ममुहूर्त में ही तीर्थयात्री पवित्र झील में स्नान को उमड़ पड़ते हैं। सारा क्षेत्र शिवमय हो जाता है। शिव की जय-जयकार से सारा क्षेत्र गुँजायमान हो उठता है। इस प्रकार मणिमहेश के न्हौण में एक साथ हज़ारों यात्री पवित्र स्नान करते हैं। यहाँ डल झील पर लोग आपस में मित्रता भी जोड़ते हैं। इसे 'मित्री लगाणा' कहते हैं। ऐसा विश्वास है कि मणिमहेश में मित्री लगाणे से अगले जन्म में सगे भाई-बहन बनते हैं। हिमाचल सरकार द्वारा इस यात्रा को राज्य स्तरीय उत्सव घोषित किया गया है। तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए जिला प्रशासन की ओर से पर्याप्त प्रबन्ध किये जाते हैं।

*('विपाशा' : अंक : 151, मार्च-अप्रैल, 2011 से)*

# सिब कैलासों के बासी

सिब कैलासों के बासी, धौलीधारों के राजा
संकर संकट हरणा–ओ भोले बाबा
संकर संकट हरणा।

दूरां दूरां दे तेरे जातरू आये, भरदे-न जै जै-कारा
ओ भोले बाबा भरदे-न जै जै-कारा
सिव कैलासों के वासी धौलीधारों के राजा
संकर संकट हरणा।

तेरे कैलासां रा अन्त नी पाया, अन्त बेअंती तेरी माया
ओ भोले बाबा, अन्त बेअंती तेरी माया,
सिब कैलासों . . .

उच्ची उच्ची धारां पैन फुआरां, गज-गज पेई जांदा पाला
ओ भोले बाबा गज-गज पेई जांदा पाला,
सिव कैलासों . . .

अंग भभूत तेरे धौलू सुआरी, कियां करि दरसण पाणा
ओ भोले बाबा कियां करि दरसण पाणा,
सिब कैलासों . . .

सिबजी जो सजदा चोला ते डोरा, गौरजा जो सजे डोडमाला
ओ भोले बाबा, गौरजा जो सजे डोडमाला,
सिब कैलासों . . .

तेरे कैलासां रा पैंडा बड़ा संगड़ा, संभली संभली करि चलणा
ओ भोले बाबा, संभली संभली करि चलणा,
सिव कैलासों . . .

तेरे कैलासां तिन जीव जे रैंह्दे, गौरा गणपति महादेवा
ओ भोले बाबा, गौरा गणपति महादेवा,
सिब कैलासों . . .।

# गौरा जो बियाई भोला सिबपुरी आया

गौरा जो बियाई भोला सिबपुरी आया
गौरा माता भोजन पकाया हो
गौरा जो बियाई . . .

इक थाला़ गौरा तू ता, भोजन पायां हो
ठौकरां जो भोग मैं लगाणां हो,
ठौकरां ता तेरे सुआमी लिब्भदे नी मूला़
हिन्न वो वठोरे कुस कूणां हो,
गौरा जो बियाई. . .

ठौकर ता मेरे गौरा रैहंदे अंदरोला़
तेरे का ता दिक्खणे से गांहि हो,
गौरा माता मने-मने सक्क गैहूराया।
भंग वो धंतूरा बाग्गे उग्गाया हो,
गौरा जो बियाई . . .

घोट्टी घाट्टी मणे दा प्याला वणाया हो
गौरा माता सिबा जो पियाया हो,
मने केरा किंग्गरा, तने केरा ताल हो
गौरा राणी धूड़ू नचाया हो,
गौरा जो बियाई . . .

नच्चेया-जे नच्चेया, धूड़ू जट्टां वो खलारी
डिग्गी गंगा धरणी रे भारे हो,
दिक्खी-ता दिक्खी वोले मेरे ठाकुर
अज्ज खुल्ले राज तुम्हारे हो,
गौरा जो बियाई . . .।

# कुते मिलणा मेरा भोला संकर

कुते मिलणा मेरा भोला संकर
कुते मिलणा धूड़ू सामी, रामा कुते मिलणा,
तेरे दरसण दा चाओ, भोला कुते मिलणा
कुते मिलणा . . .

मंदर हुंदा तां चरणा डिग्गदा, मंदर मूरत तेरी भोले,
रामा कुते मिलणा, कुते मिलणा मेरा भोला संकर
रामा कुते मिलणा . . .

बणाँ हुंदा मैं दो गल्लाँ करदा, बणाँ फुल बुट्टे तेरी माया,
रामा कुते मिलणा, कुते मिलणा मेरा भोला संकर
रामा कुते मिलणा . . .

दरेआ हुंदा मैं तिज्जो दिखदा, दरेआ मछिआँ तेरी माया
रामा कुते मिलणा, कुते मिलणा मेरा भोला संकर
रामा कुते मिलणा . . .

घरे हुंदा तेरे दरसण करदा, घरे तेरी दाया री मैह्मा
रामा कुत्ते मिलणा . . .।

# चम्बे दियां धारां

मेरा भोला सिबजी बसदा, चम्बे दियां धारां
चम्बे दियां धारां अजब नज़ारा
मेरा भोला सिबजी बसदा . . .

हत्थ तरसूल़, डमरू सिबजी दे साजे
गल़ा बिच नाग ते नाद बराजे,
मत्थे मणि रा हो लसकारा
चम्बे दियां धारां, मेरा भोला सिबजी बसदा . . .

अंग भभूती सिबजी-जे लांदा
मृगछाल़ा रा आसण बछांदा,
भंग पी करी ताड़ी लांदा तरलोकी
चम्बे दियां धारां मेरा भोला सिबजी बसदा . . .

भोले तेरा रूप निआरा
बाझी तेरे है घोर न्हिआरा
मिज्जो तेरा-ई है सहारा,
चम्बे दियां धारां मेरा भोला सिबजी बसदा. . .

कन्ने कुंडल मेरा सिबजी जे पांदा
मूंहडे मिरगाणा सिबजी जे लांदा
जटा-गंगा माँ रा नज़ारा
चम्बे दियां धारां, मेरा भोला सिबजी बसदा . . .।

# उच्चेयां कैलासा सिबजी रैहंदे

उच्चेयां कैलासा सिबजी रैह्ंदे, गौरा गणपति कन्ने
मने रे सारे भेद मटाणे ता, मणिम्हेसा जो चल्ले
हो चलो चलो मणिम्हेसा जो जाणा, सिब संकर दे दरसण पाणा
हो चलो चलो मणिम्हेसा. . .

सच्ची सरधा धारी भगतो मणि-म्हेस जाणा
धूप धुखाई धिआन धिआई मने दा दुःखड़ा सुणाणा
बड़े दिआलू भोले भण्डारी सभनी री ओ सुणदे
जनम जनम दे पाप ओ भगतो पल बिच नस्ट ओ करदे
हो चलो चलो मणिम्हेसा. . .

मन दी आसा कदी बी भगतो हुंदी नेइयो पूरी
मोहमाया दे जंजाला बिच, नित हुंदी नौई मजबूरी
काम-धाम सब छड्डी के भगता मणिम्हेसा डल़ न्हाणा
सिब-चरणा जाके सीस झुकाई, कित्ता पाप रुढ़ाणा
हो चलो चलो मणिम्हेसा . . .

जिन्हां रे तांई तू पाप कमांदा, साथ कुनी नी दैणा
अन्त बेले तैं मिट्टी हूणा, आतमा बड़ा पछताणा
मोह-ममता रा जाल़ तरोडी सिब दरसण जो जायां
सोच बचार करि भगता जीवन तू सफल बणायां . . .

हो चलो चलो मणिम्हेसा जो जाणा, सिब संकर दे दरसण पाणा
उच्चेयां कैलासा सिबजी रैह्ंदे, गौरा गणपति कन्ने
मने रे सारे भेद मटाणे ता, मणिम्हेसा जो चल्ले।

# धूड़ू नच्चेया जटा बो खलारी हो

धूड़ू नच्चेया जटा बो खलारी हो
धूड़ू नच्चेया जटा बो खलारी हो
नच धूड़ूआ बजे तेरे बाजे हो
नच धूड़ूआ बजे तेरे बाजे हो
गौरा पेटा पीड़ पुकारी हो
नच धुड़ूआ करे मेरी कारी हो
धूड़ू नच्चेया जटा . . .
धूड़ू नच्चेआ जटा बो बुम्बारी हो
गंगा डिग्गी पेई धरणी दी भारी हो
धूड़ू नच्चेआ जटा . . .
गंगा गौरा पाणीए जो चली हो . . .
गौरा पुछदी तू लगदी कै मेरी हो . . .
गंगा बोलदी सौकण मैं तेरी हो
धूड़ू नच्चेआ जटा . . .
गंगा गौरा सरो-सर लड़ी हो
टुटे हारा चौरासियाँ लड़ी हो
धुड़ू दिक्खदा खड़ो खड़ी हो
धुड़ू नच्चेआ जटा . . .
गंगा लेई गेआ भागीरथ चेला हो
धूड़ू रे'ई गेआ केलमकेह्ला हो
धुड़ू नच्चेआ जटा SSS . . .।

*(मणिमहेश यात्रा से जुड़े ये लोकगीत श्री चंचल सरोलवी के सौजन्य से संकलित हैं)।*